काम, प्रेम और परिवार

: प्रश्न :

सुशीला अग्रवाल

प्राध्यापिका

(इन्द्रप्रस्थ कॉलेज, दिल्ली)

पूर्वोदय प्रकाशन

७, दरियागंज, दिल्ली।

विषय-सूची

प्रस्तावना

जीवन मे एक अवस्था आती है जब व्यक्ति मे मानव-समाज के सम्बन्ध मे अपना स्थान निर्धारित करने की इच्छा प्रबल हो उठती है। सन् १९४७ मे दिल्ली आने पर जब मुझे श्री जैनेन्द्र जी का सम्पर्क प्राप्त हुआ तब मेरे मन मे भी शायद ऐसी ही जिज्ञासा और व्याकुलता थी। मैं घण्टो अविरल-भाव से श्री जैनेन्द्र जी के सन्मुख प्रश्नो की झड़ी लगाती चली जाती थी। उस समय अपने कौतूहल की शान्ति की चेष्टा ही प्रधान थी। इस वार्ता के आगे के महत्त्व की बात कल्पना मे भी न आई थी।

सन् १९४९ मे जब श्री जैनेन्द्र जी के परिवार के साथ १०,१२ दिन ऋषिकेश-जैसे रम्य स्थान पर रहने का अवसर मिला तो विशेषकर प्रेम के अनेकानेक पहलुओ को लेकर चर्चा चली। प्रेमवृत्ति हमारे पारिवारिक व सामाजिक जीवन की आधार शिला होने के कारण सबमे अधिक महत्त्वपूर्ण है। लेकिन हमारे समाज ने विवाह सूत्र मे बँधे प्रेम को स्वीकृति देने और शेष का तिरस्कार करने का सरल और सहज सूत्र पकड लिया है। इसलिए प्रेम विषयक चर्चा व विवेचना अनावश्यक ही नहीं गर्हित तक समझी जाती है। जीवन भी इस छोटे से सूत्र की तरह सहज होता तब तो बात अलग थी—पर वह इतना जटिल है कि इस जटिलता से उद्भूत अनेकानेक समस्याओ से प्रगति चाहने वाला समाज आँखे नहीं मींच सकता। आँखे मीचने का परिणाम यह हो रहा है कि हम पारस्परिक सम्बन्धो का सहृदयता से निर्वाह नहीं कर पाते, और अपनी सकीर्ण मतावलम्बी आलोचक दृष्टि से अपने सम्पर्क मे आने वाले अलग-अलग व्यक्ति की जीवनी शक्ति के ह्रास मे सहायक हो समष्टिगत अवनति के कारण बन जाते हैं। जैनेन्द्र जी की वार्ता मे हमारे विचार के अभाव की पूर्ति करने वाले, समाज को दृष्टि देने वाले अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्वो के पर्त-पर-पर्त खुले—तब मेरी यह इच्छा हुई कि इस समाजोपयोगी वार्ता को इन्हीं क्षणो मे बिखर कर समाप्त न

होने दिया जाय इसे किसी रूप में समेट कर विचार-जगत् के सामने प्रस्तुत किया जाय। इसी छोटे से प्रयास को इस पुस्तक का रूप दिया गया है।

पाठक अवगत होंगे कि वार्तालाप को लिपिबद्ध करने में अनेकानेक मर्यादाएँ हैं। स्वाभाविक प्रवाह-क्रम में जो बात थोड़े में समझ में आ जाती है उसी को समझने के लिए अनेकानेक प्रश्न करके अनेकानेक पृष्ठ रंगने पड़ते हैं—बात काफी फैलती, बिखरती और विषय से बाहर जाती प्रतीत होती है। प्रश्नकर्ता व वक्ता का तादात्म्य टूटने-सा लगता है। इस तरह वार्ता के प्रवाह में बाधा डालकर लिखने से मेरी स्वार्थवृत्ति मुझे रोकती रही है। परिणामतः लम्बी अवधि के बाद जब लिखने का प्रयत्न किया है तो कौतूहल क्रम के क्षीण हो जाने से प्रश्न प्रयत्नसाध्य भी हो गए हैं, वार्तालाप में कदाचित् मंदता आ गई है। सामग्री भी यथेष्ट नहीं हो पाई है। सारांश यह कि वार्तालाप का क्रमबद्ध प्रवाहशील रूप मैं आपके सन्मुख उस ढंग से नहीं रख पा रही हूँ जिस ढंग से मैं स्वयं अनुभूत करती रही हूँ। इसके लिए पाठक से क्षमा प्रार्थी हूँ।

इस वार्ता में श्री जैनेन्द्र जी की अन्तर्दृष्टि की पूरी छाप लेने की कोशिश में मैं यथासम्भव अनेकानेक प्रश्न उठाती चली गई हूँ। पर फिर भी अन्त में इससे मुझे समाधान प्राप्त हुआ अथवा पाठकों को होगा, यह कहना कठिन है। यह तात्त्विक विवेचना ही है। पर इतनी आशा मुझे अवश्य है कि इस वार्ता में से गुजरना विचारक पाठक के लिए रुचिकर होगा। हम सबको ऐसी वार्ता का आनन्द देने के लिए जैनेन्द्र जी का कृतज्ञ होना चाहिए। उन्होंने एक वक्तव्य में नारी का आदर्श प्रस्तुत किया था। उसे उपयुक्त समझकर भूमिका रूप में दिया जा रहा है।

सुशीला अग्रवाल

इन्द्रप्रस्थ कालिज
दिल्ली
१-२-१९५२.

भूमिका

नारी के आदर्श या आदर्श नारी पर सीधे कुछ कहना मेरे लिए मुश्किल है। उसकी तस्वीर मैं दे नहीं सकता। आदर्श को किसी एक में बॉधकर दिखाना खतरे का भी काम है। यों भी जिन्दगी में एक ही को मान कर रह जाना मुझसे अब तक बन नहीं सका है। हर दूसरे में भी कुछ न-कुछ खूबी देखने को रहती ही हैं। मालूम होता है आदर्श अनेक-रूप है, उसके पहलू अनेक हैं और रग अनेक हैं। सुन्दरता को एक जगह निहार कर ऑख रह नहीं पातीं। सब कहीं उसकी छवि है, यद्यपि सब जगह झलक अलग-अलग है। इस तरह आदर्श केन्द्रित नहीं है, व्याप्त है। वह अरूप है और निर्गुण है। निराकार को आकार देना, निर्गुण को गुणों का परिधान पहिनाना, या अरूप को रूपाभा मे जगा उठाना आसान काम नहीं है। वह काम शायद जरूरी और असली भी नहीं है।

आदर्श के लिए जान पड़ता है स्त्री को निर्गुण और रूपातीत होते जाना होगा। कुछ उस पर जमा या रुका न रहे। जैसे जल, कि पात्र के अनुरूप हो रहे। जैसे धूप, कि उसमे रग कोई हो नहीं अगरचे सब रग उसमे हो। हर वातावरण मे वह समरस हो सके और कहीं अनमिल न दीखे, यद्यपि उसे व्यक्तित्व कहीं खोना न पड़े। वक्त पर खूब बात कर सके लेकिन समय पर उसी तरह मौन भी रह सके। रसों को शास्त्रकारों ने अलग-अलग गिनाया है। स्त्री मे कोई रस अलग नहीं चाहिए। यह नहीं कि मीठी ही मीठी हो, खट्टी न हो, या खट्टापन इतना हो कि नमक की जरू-

रत जान पड़े। आवश्यक अनुपात मे लगता है कि उसमे कड़वाहट भी चाहिए। और चरपरे स्वाद को मैं एकदम निषिद्ध ठहराने का कायल नहीं हूँ। यह सब मिलाकर जो व्यजन होगा उसके स्वाद को मैं कहूँगा निर्गुण। निर्गुण गुणहीनता नहीं है, गुणो का सामंजस्य है। जब अनुपात असामजस्य होता है तब गुण ही अवगुण बना दीखता है। मुझे भय है कि निरी गुणाढ्य भार्या पति के लिए कष्टकर हो सकती है।

एक वस्तु है रूप। स्त्री के लिए वह चीज बडी अनिवार्य समझी जाती है। मैं नहीं जानता कि रूप किसे कहते हैं। निश्चय ही अगो के बनाव पर रूप निर्भर नही है। रग से भी उसका सम्बन्ध नहीं है, न प्रसाधन से। बहुत सी रूपसियो को देखा है, पर जो छवि इन वर्षों के अन्तराल पर से मुझे याद बनी है वह है जिसको रूप से किसी तरह जोड़ा नहीं जा सकता। रवि ठाकुर के शान्तिनिकेतन की बात है। बरस बहुत-से हो गए हैं। भोजन की मेज से आँख उठाता हूँ कि मैं विस्मय में देखता ही रह जाता हूँ। थीं वह एक प्रौढ़वय की महिला जो खाना परोसने में देती करती हुई अतिथियों की सार-सँभाल कर रही थीं। उनके साथ कहीं किसी प्रकार की विशेषता न थी। रंग सामान्य, शरीर सामान्य, वस्त्र सामान्य। बल्कि यह सब-कुछ सामान्य से भी कम था। लेकिन उस मुख पर एक ऐसा निश्छल आनन्द और सौहार्द का भाव था कि वह चेहरा स्त्री का नहीं देवी का ही मुझे लग रहा था। साक्षात् उस समय वह माता अन्नपूर्णा ही प्रतीत हुईं। इसलिए कहता हूँ कि मैं नहीं जानता रूप क्या होता है। कारण, कुछ देर बाद उन्ही महिला को क्रोध करते हुए भी मुझे देखना पडा था। उस समय की उनकी आकृति से अपरूप कुछ हो सकता है यह मेरे अनुमान से बाहर है। बरसो-बरस पहले के अनुभव मे आए वे दोनो रूप अब भी मेरी आँखो के आगे आ जाते हैं, और सोचता हूँ कि रूप, अंग मे नहीं होता, अन्तरंग मे होता है।

भूमिका

स्त्री के आदर्श के साथ रूप का कोई सम्बन्ध मुझे नहीं दीखता। पर स्त्री ही अधिकतर यह नहीं जान पाती, इससे वह ठगी जाती है। रूप, वह जो अंग पर से झलकता है, असल में प्रकृति की ओर का एक छल है। मातृत्व एक दायित्व है और स्त्री को वह रूप के व्याज से ही मिलता है। रूप उसका स्वरूप नहीं है। स्त्री का स्वरूप है सतीत्व और मातृत्व। जो उस स्वरूप को नहीं अपनाती, रूप भी उसका व्यंग्य बनता है। वह उसके जीवन में नहीं घुलता और उसे सुन्दर नहीं बनाता। जो वयस्का होकर नवीना दीखना चाहती हैं, माता बनकर भी प्रेमिका बनने का प्रयास करती हैं, वे स्त्रीत्व की शोभा नहीं कहलातीं। उनसे उल्टे जुगुप्सा होती है।

आदर्श के लिए स्त्री की पहली आवश्यकता है कि वह ईश्वर से अपनी सन्धि स्थापित करे। यानी वह स्त्री बनी है तो स्त्रीत्व से बाहर अपनी सार्थकता देखने की हठ न रखे। पुरुष के पौरुष की स्पर्धा में न पड़े। बल्कि उसे उसी रूप से अपने में धारण कर कृतार्थता अनुभव करे। सतीत्व का यही मतलब है। आज का कैरीयरिस्ट शब्द सतीत्व के अर्थ को स्पष्ट कर देता है। कैरिरिज़्म में पुरुष से होड़ है, सतीत्व में पुरुष से योग और सहयोग है।

हमारे यहाँ सीता माता की आदर्श रूप में पूजा होती है। राम मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं तो सीता भी आदर्श नारी की मर्यादा हैं। राम के धर्म में सीता का अपना विसर्जन समा गया है। उन्होंने पति का साथ देने के लिए वन-वास लिया और समय पर साथ छोड़ने के लिए भी अरण्य-वास सहज भाव से ले लिया। पति के हाथों सब-कुछ लिया और कहीं पति-धर्म पर क्षति नहीं पहुँचाई। कभी राम में संशय नहीं किया।

नारी के लिए मेरे ध्यान में परम आदर्श सतीत्व ही है। उसमें स्त्री के लिए अपने स्वरूप की सम्पूर्ण स्वीकृति है। यह गलत है कि स्त्री मातृत्व से विमुख कुछ चाहती है। दूसरी चाह विकार है, वे स्त्री का स्वरूप

नहीं, विरूप हैं। उस स्वरूप-साधना का ही नाम सतीत्व है। पति नामक पुरुष सिर्फ उसमें उपादान है, अन्यथा सतीत्व स्त्री की स्वतन्त्र साधना है। स्त्री उसी पद्धति से समष्टि-लाभ के योग्य बनती है।

दूसरी कोई स्वतन्त्रता स्त्री के लिए भ्रम है। आर्थिक जैसी किसी स्वतन्त्रता मे से वह अपने को सार्थक नही पा सकती। गृहिणी धर्म मे ही उसकी समुचित परितृप्ति है।

लेकिन सती गृहिणी का धर्म कोई जकड़बन्द वस्तु नहीं है, यह सती शिरोमणि राधा के आदर्श से साफ हो जाना चाहिए। पति तो द्वार है, स्त्री का समर्पण पति के द्वारा असल मे समष्टि-जीवन-रूप परमेश्वर में ही पहुँचता है। ऐसी स्त्री की सहानुभूति के लिए सीमा नहीं रह जाती—न अधिकार पर अंकुश रहता है। समस्त समष्टि के साथ आत्मीयता का भाव उसमे खुला रहता है, यद्यपि केन्द्रच्युत होने की भी उसके लिए कभी आवश्यकता नहीं होती।

सीता और राधा के युग्म मे जो स्त्रीत्व का आदर्श प्रस्फुटित होता है उससे बड़ी सम्पूर्णता मुझे और कहीं दिखाई नहीं देती है।

जैनेन्द्रकुमार

इन्द्रिय-भोग, ब्रह्मचर्य और पारिवारिकता

प्रश्न—मनुष्य जीवन की मूल सफलता क्या ब्रह्मचर्य साधन में निहित है ?

उत्तर—हाँ।

प्रश्न—ब्रह्मचर्य का अर्थ आप 'इन्द्रिय-निग्रह' ही तो लेते है न—अर्थात् समस्त इन्द्रियों को संसार के विषयों से हटा लेना ?

उत्तर—ब्रह्मचर्य का सच्चा अर्थ है—ब्रह्म की चर्या। ब्रह्म के सिवा और है क्या ? इससे उसका अर्थ हो जाता है—समस्त सृष्टि के साथ तादात्म्य-साधन, जो विधान सृष्टि को थाम रहा है उससे एकाकारता—अर्थात् परमात्ममय आचरण। ऐसा ब्रह्मचर्य विश्व से अलग नहीं रह सकता, न वह जीवन के अमुक आश्रम तक परिमित हो सकता है। उसे तो आदि से अन्त तक व्याप्त होना चाहिए। मैं तो गृहस्थ-धर्म को भी इस प्रकार के उन्नतिशील ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत ही लेता हूँ। किन्तु स्पष्ट है कि स्थूल अर्थवाला ब्रह्मचर्य इससे भिन्न वस्तु है। ब्रह्मचर्य मे सहायक और अनुकूल होकर तो रूढ ब्रह्मचर्य हितकर ही है, अन्यथा वह बलात् दमन हो जाता है और अनिष्ट परिणाम लाता है।

प्रश्न—गृहस्थ-कर्म मे ब्रह्मचर्य की साधना कैसे हो सकती है ? इसमे तो वृत्तियाँ निम्नोमुखी हो जाती है। ब्रह्मचर्य के लिए ऐसी अवस्था बाधक ही हो जाती है। इसलिए ब्रह्मचर्य की साधना के लिए एकांत क्या आवश्यक नहीं है ?

उत्तर—ऊर्ध्व और निम्न शब्द परस्पर विरोधी हैं। विरोध को लेकर विवेचन तो चल सकता है—अर्थात् बुद्धि की गति मे वह सहायक हो सकता है, किन्तु उपलब्धि द्वैत मे नहीं, अद्वैत मे है। वह समन्वय मे है। ऊपर ले जाना किस काम का अगर नीचे कुछ न आ सके। पानी ऊपर चढ़ाते है, इसीलिए न कि नीचे नल लगाने मे सुभीता हो? नहीं तो ऊपर टंगा पानी किस काम का। बादल वही भले जो बरसते है। इस सबसे हम देखेंगे कि ऊर्ध्वता अपने-आप मे निम्नता का निषेध बनकर मुक्ति के अर्थ मे कोई बहुत स्पृहणीय वस्तु नहीं रह जाती। ऊर्ध्वमुखता, हाँ, ठीक है, किन्तु गृहस्थ-धर्म ऊर्ध्वमुखी नहीं है, या नहीं हो सकता, इस भ्रम की क्या आवश्यकता है? एकान्त की बात तुमने कही। मै तो यह मानता हूँ कि अन्तर और बाह्य इन दो तटो का सामंजस्य आवश्यक है। इसलिए प्रत्येक साधना में आयाम दो होते हैं। ऐकान्तिक साधना कोई हो ही नहीं सकती। अलग जा सकते हैं, लेकिन फिर आ मिलने के लिए। इस प्रकार जगत् से किनारा लेना उपादेय अगर हो भी, तो अन्त में जगत् की सेवा-सामर्थ्य के उपार्जन की दृष्टि से। ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम का विधान है। गृहस्थ मे क्या हम समझे कि ब्रह्मचर्य टूटता है? नहीं, यथार्थ मे तो वह ब्रह्मचर्य की ही उत्तर परिणति है। पहले मे दूसरे आश्रम मे उत्कर्ष ही मानना होगा। नहीं तो अर्थ और काम बीच मे न आते, न गृहस्थ वानप्रस्थ बीच मे आते, और ब्रह्मचर्य से एक साथ मोक्ष-प्राप्ति का विधान होता। मै तो यह मान लेना चाहता हूँ कि वही व्यक्ति प्रजोत्पादन का आदर्श अधिकारी है, जो योग्य वय तक पूर्ण सयम रख सका है। सफलता से जो सयम घबराए, उसे हठ और अहकार का प्रतीक मानना चाहिए। अन्त मे उसे टूटना है। इसलिए जितनी जल्दी वह टूटे, उतना भला।

प्रश्न—सफलता से संयम के घबराने का क्या आशय है?

उत्तर—फल सदा प्रवृत्ति का परिणाम है। जो सयम प्रवृत्ति-मार्ग से

किनारा लेने की वृत्ति बढाता है, मैं कहने की छूट लेता हूँ कि वह फल से घबराता है। इससे वह कृतार्थता तक भी नही पहुँच सकता।

प्रश्न—तो क्या साधना के लिए संसार से अलग एकात मे बैठने वाले तपस्वियों की खोज को आप निरर्थक श्रम ही मानते है?

उत्तर—मै अन्तर्यामी तो हूँ नही। लेकिन यह बताओ कि जीवन जो देश-काल की अनुभूति पाता है, उसका अर्थ ही क्या रह जाय, अगर हम समग्र से अश को, परमात्म से जीवात्म को, किंचित् विलग न मान सकें। अनुभूति सब द्वैत पर सम्भव है। अब वह द्वैत क्या? विलगता क्या? तो मै कहूँ वह है भोग और योग। भोग है, इससे योग तक चाहते है। इसी मे है जीवनोत्कर्ष की परिभाषा और विकास की प्रकिया।

प्रश्न—तो आपकी सम्मति मे प्रत्येक अध्यात्म जिज्ञासु के लिए भोग अति आवश्यक है, चाहे वह स्वय उसकी आवश्यकता अनुभव करे या न करे?

उत्तर—नहीं, वह है, इसका मतलब यह नही कि होना चाहिए। भोग हमारी न्यूनता का द्योतक है। अधभर पानी घड़े मे छलकता ही है। भर जाने पर छलकना आप बन्द हो जाता है। भोग को भी यह छलकना ही समझो। अब हम क्या अध-भरे ही रहने वाले हैं? भरते आने की राह मे छलकना मन्द और बन्द होता जायगा। इस तरह योग को मैं भोग की अग्रिम परिणति ही समझ लेता हूँ। ईश्वर पूर्वक भोग योग ही है।

प्रश्न—भोग मे से योग कैसे सम्भव है? भोग-वासना की आकांक्षा तो परितृप्ति की चेष्टा मे आग मे घी डालने के सदृश बढ़ती ही जाती है। मुक्त स्थान पर क्या वह प्राणी को इस प्रकार अपना गुलाम ही नहीं बना लेती?

उत्तर—यो तो इन्द्रियो का कोई व्यापार वासना से अस्पृष्ट नहीं कहा जा सकता। तो क्या इस 'वासना' शब्द से डरकर इन्द्रियो को समाप्त कर

दिया जाय ? वह सम्भव नहीं है, इष्ट भी नहीं है। किन्तु वासना को अभिलाषा मे अवश्य परिणत किया जा सकता है। तब वही शक्ति व्यक्ति को पूर्णता की ओर ले जाने वाली होती है। शक्ति मात्र ईश्वरीय है। जिसको हम वासना कहते हैं उसे अपने से तोड़कर सत्य से, ईश्वर से जोड दें तो वही शुभ हो आयगी। अमुक सज्ञा देकर अपने को ह्रस्व अथवा रिक्त हम नहीं कर सकते। वह अधर्म का मार्ग है, दिव्यता का नहीं। वह हमें जडता पर ले जायगा। अरुचि के विशेषण देकर भूल से हम मूलशक्ति पर ही निषेध का आघात दे, तो वह पूर्णता नहीं, न्यूनता की दिशा मे ही ले जाने वाली बात होगी। मै तो इस विषय में अपनी संकीर्ण रुचि-अरुचि से उत्तीर्ण होकर चलने की सलाह जिज्ञासु को दूँगा। तब वह बहुत-कुछ जो अपने अहंकृत मत-मतव्य के कारण हम से तिरस्कृत होता है, हमारे लिए आदरणीय होगा। और हमारी सहानुभूति जो घुटकर दोष दर्शन का रूप लेती है, हमे आत्मदर्शन और परमात्म-दर्शन की ओर बढाने का अवसर पायगी।

प्रश्न—वासना मनुष्य को बाँधती है। इसलिए वासनाओं और इच्छाओं से परे होकर प्रेम का, आत्म का, व्यापार ही क्या साधक के लिए इष्ट नहीं है ?

उत्तर—इन्द्रियों से परे होकर प्रेम का, आत्म का, कोई व्यापार होता है, ऐसा मैं नहीं जानता। आत्म तो यो व्यापारी ही नहीं है। है तो उस कर्म के लिए उसको मिलीं ये इन्द्रियाँ ही हैं। इनसे परे, या विलग, या बावजूद होकर चलने को कोई व्यापार क्यो शेष रह जाना चाहिए ? अर्थात् इन्द्रियों तक को आत्म-व्यापार मे अपना-अपना पूर्ण लाभ प्राप्त होता है, ऐसा ही मानने की मैं सलाह देता हूँ।

प्रश्न—वासना को आप प्रेम का विरोधी नहीं मानते ? वासना जहाँ बाँधती है, प्रेम वहाँ मुक्त करता है, क्या ऐसा आपको नहीं दिखाई देता ?

उत्तर—प्रेम क्या कोई अभिलाषा-हीन व्यापार है ? क्या उसमे इच्छा नहीं है ? और कौन उस प्रेम को जानता है जो सर्वथा वासना शून्य है ? इसलिए मै नही चाहूँगा कि वासना को प्रेम के एकदम विरोध मे देखो। ऐसे मालूम होने लगेगा कि जिनको हम वासना मे पडा मानते हैं वे भी असल मे उस विधि वापस जडता की तरफ नहीं, बल्कि प्रेम की ओर ही उठने को छटपटा रहे हैं। यह बात कोई उनकी हितैषिता के नाते मै नहीं कह रहा हूँ, बल्कि यथार्थ सत्य इसके सिवा दूसरा हो ही नहीं सकता। प्रेम यदि किसी मे भोग रूप मे है और योग तक नहीं उठ पा रहा है, तो कौन जानता है कि इसमे निमित्त हम तुम नहीं हैं ? अर्थात् हो सकता है कि अपनी सहानुभूति उसे न दे सकने की अपनी असमर्थता का बन्धन हमहीं उस पर डाल रहे हो। बन्धन मे घुटकर योग भोग हो जाता है। इस तरह वासना को भी कुचलना नही है, उठाना है। नकार-निषेध के जोर से विकार नहीं मिटता। विकार के सम्मुख होकर सस्कार सहज ही उसे उठायगा। आगे तिरस्कार, द्वेष और घृणा को लाकर विकार को और विकृत ही बनाया जा सकता है।

प्रश्न—इसका आशय क्या यह हुआ कि प्रत्येक प्रकार की वासना-तृप्ति ब्रह्मचर्य-साधन के लिए आवश्यक है ?

उत्तर—तृप्ति जब तक बहुमुख है, वह अतृप्ति है। इसी से स्थायी तृप्ति इन्द्रियातीत कही जाती है। इसका मतलब यह नही कि वह इन्द्रियो को बीच मे अतृप्त छोड जाती है, बल्कि यही कि उसे इन्द्रियो मे अलग-अलग न बाँट सकने के कारण एक साथ आत्मगत ही कहना होता है। वह अमुक या विविध इन्द्रियो मे रुद्ध या बद्ध न रहकर हमारी समग्रता को युगपत् प्राप्त होती है।

प्रश्न—हाँ, तो निकल आई न बड़ी बात कि इन्द्रियों को विषयो पर मनमानी नहीं छोड़ा जा सकता ? उन्हे आत्म-तृप्ति के लिए

नियोजित करना पड़ता है।

उत्तर—आत्मा को और इन्द्रियों को परस्पर विरोध मे देखने के हम आदी बने हैं। कुछ वैसा विरोध तो है नहीं। जो आत्मानुकूल है इन्द्रियो से प्रतिकूल वह हो नहीं सकता। आत्मा अखण्ड और एक है। इन्द्रियाँ अग रूप है, इसलिए कई हैं। इन्द्रियो की तृप्ति अलग-अलग है। इस-लिए ऐसी प्रत्येक तृप्ति स्पष्ट ही अतृप्ति बन जाती है। दूसरे शब्दो मे इन्द्रियो के क्षेत्र मे तृप्ति जैसी वस्तु है ही नहीं, वहाँ केवल तृष्णा है। तात्कालिक रूप से तृष्णा तृप्ति ढूँढती और पाती रहती है। ये तृष्णा और तृप्ति बहुसख्यक हैं, इसी मे है कि वह क्षणिक हैं, ध्रुव नहीं हैं। इससे वे भ्रम हैं, सत्य नहीं हैं। एक ही साथ जो कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय इन सब इन्द्रियो को तृप्त करती है, वह तो आत्म-तृप्ति ही हो सकती है। इससे सच तोयह है कि अनात्म भोग के प्रत्येक प्रयोग मे इन्द्रियाँ आत्म-योग ही ढूँढती हैं। इन्द्रियो को वह योग मिलता है तब ही उन्हे सच्ची सार्थकता अनुभव होती है। शेष मे तो उन इन्द्रियो को अपनी प्रत्येक क्रिया पर प्रतिक्रिया का भोग ही भोगना पड़ता है।

प्रश्न—भोग मे से ही इस प्रकार आप अध्यात्म खोजने को कहते है। किसी भी व्यक्ति के लिए क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि बिना संसार को भोगे उसे आत्म-योग प्राप्त हो जाय ?

उत्तर—बिना भोगे ? तो यह तो नहीं कि वहाँ अमुक विषयक किंचित् अकृतार्थता का बोझ रह छूटा हो ? अर्थात् मान लो कि किसी के मन मे यह साध रह गई कि उसने भर-आँख सौन्दर्य नहीं निहारा, या सगीत का आनन्द पूरा-पूरा नही पाया, अथवा अमुक स्पर्श-सुख जानने से शेष रह गया, तो यह अभाव-बोध निश्चय ही मुक्ति मे बाधा बनने वाला है। ऐसी कसक को बच रहने देकर आत्म-विकास सम्पन्न नहीं हो सकता, और जो होता दीखता है, एक दिन उसे ढह गिरना है।

प्रश्न—इस तरह तो मनुष्य की अपनी सीमा है, कितना ही भोगे कोई-न-कोई साध रह ही जायगी। तब क्या उसका आत्म-विकास सम्भव नहीं ?

उत्तर—हॉ, सीमा है। बाह्य पदार्थ-जगत् मे उस सीमा का लंघन या लोप नहीं है—अर्थात् उस जगत् के पदार्थों द्वारा मिलने वाली तृप्ति सदैव अतृप्ति-मूलक है। कोई साध हो नही सकता कि वहॉ कसकती न रहे। सीमा का लोप निश्शेष असीम मे ही है—अर्थात् ईश्वर-प्राप्ति मे लगकर ही इन्द्रियॉ तृप्त-काम हो सकती हैं, अन्यथा नहीं। इसी से तो योगानन्द के आगे भोग का स्वाद सर्वथा तुच्छ हो जाता है।

प्रश्न—जब आप किसी भी दशा मे भोग के बिना सीधी भगवत्-प्राप्ति मानते ही नहीं, तो रामकृष्ण परमहंस आदि योगियो के विषय मे आप क्या सोचते है। उन्हे क्यों भोग की आवश्यकता ही नहीं पडी ?

उत्तर—साधन की आवश्यकता तो उन्हे भी हुई ही न ? प्रयत्न न करना पड़े तो जीवन का अर्थ पुरुषार्थ ही समाप्त हो जाय। स्वय रामकृष्ण के जीवन मे क्या अटूट प्रयत्न नहीं दीखता ? प्रयत्न की आवश्यकता ही क्यों ? यदि आत्म-योग से अलग इन्द्रिय-भोग जैसा कुछ, वहॉ हो ही नहीं ? इन्द्रियॉ सदा स्वच्छन्द होना चाहती दीखती है, उन्हे सदा वश मे रखना होता है।

प्रश्न—विवेकानन्द को प्रयत्न करना पडा हो, तो आश्चर्य नहीं, पर रामकृष्ण तो विवाहित पत्नी को छोडकर चले गये। उन्हे तो कोई प्रयत्न करना पड़ा हो, ऐसा नही लगता।

उत्तर—ऊपर से देखने मे ऐसा लगता हो, पर भीतर से भी ठीक ऐसा है, यह नही मान लेना चाहिए। लेकिन अन्त मे तो यह है ही कि अन्तस्थ भाव भगवत्-भाव है। इसलिए कुछ दूर चलने पर अनायास उधर गति

होती हो तो विस्मय की क्या बात है ? लोहे को चुम्बक की तरफ खिचने मे प्रयास पड़ता है ?

प्रश्न—रामकृष्ण को भगवत्-भाव अल्पावस्था मे प्राप्त हो गया, साधारण मनुष्यों को जीवन-पर्यन्त प्राप्त नहीं होता, ऐसा तो आप मानते है न ?

उत्तर—हो सकता है। सकता इसलिए कि रामकृष्ण को मैंने देखा नहीं। किन्तु जिनको देखा है और देखता हूँ, उन सब मे अन्तर तो पाता ही हूँ। कारण कि विविधता और भिन्नता तो सृष्टि का लक्षण ही है। किन्तु क्या इससे भगवान् में मैं खण्ड मान लूँ, पक्ष मान लूँ ? नहीं, वह तो साधु और दुष्ट मे एक समान है।

प्रश्न—रामकृष्ण के जीवन मे जिस प्रकार अल्पावस्था से विराग आ गया, किसी के जीवन मे वह प्रारम्भ से हो, तो उसे भोग मे फँसने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—विरत और विरस कहाँ अनुरक्त है और कहाँ से रस पाता है, यही देखने की बात है। तब प्रतीत होगा कि विरत और विरस उनके लिये केवल शब्द हैं। असल मे वे ईश्वर मे अनुरक्त हैं और वहाँ से रसको पाने की सामर्थ्य रखते हैं। तो यही उनका योग है।

प्रश्न—पूर्णत ईश्वर मे अनुरक्त होना तो सम्भव नहीं दीखता। हाँ, कोई व्यक्ति ईश्वरोन्मुख अवश्य होता है। वह बीच का रास्ता क्या बिना भोग के तय कर सकता है ?

उत्तर—मेरे अनुमान मे नहीं। क्योंकि जो है उससे विमुख होकर नहीं मे जाने की चेष्टा कभी कृतार्थ होने वाली नहीं। स्त्री तत्त्व (या स्त्री के लिए पुरुष-तत्त्व) क्या आँख के सामने आता ही नहीं ? भोग के निषेध मे अधिकाश उस तत्त्व को हम अपने से विरोधी मानते हैं। यों यह चेष्टा मुझे उल्टी मालूम होती है। मुक्ति तक यह ले जा सकेगी, ऐसा मुझसे तो नहीं माना जाता।

प्रश्न—पर जो पहले से ही ईश्वरोन्मुख हो उसके गृहस्थ स्वीकार करने में, ईश्वर के लिए द्वन्द्व की सम्भावना रहती है न ? यदि सीधा रास्ता मिल जाय, तो वह इस द्वन्द्व से बच न जाय ?

उत्तर—यही तो गाँठ है। यदि ईश्वर है, तो यह ससार उससे बाहर से कहाँ से हो पड़ा है ? यानी ईश्वर और ससार विरोधी नहीं हैं। अर्थात् ससार मे से ईश्वर को पाना होगा। ससार पर पीठ देकर मैं समझ नहीं सकता कि आदमी किस तरफ चल सकता है। ऐसे कुछ भी हाथ आने वाला नहीं है। निरी अकृतार्थता का बोध ही ऐसी जिन्दगी को खोखला बना देता है।

प्रश्न—गृहस्थ स्वीकार करके फिर वहाँ से भागने की सम्भावना यदि हो, तो ?

उत्तर—सम्भावना तो सम्भावना है। पक्की वह होती ही नहीं है। होनहार को अपनी मुट्ठी मे लेने वाले हम कौन ? यदि है कोई ऐसा विरागी, तो पत्नी सहज उसकी अनुगता होगी। ऐसा विरागी इतना अविश्वासी क्यो कि पत्नी-रूप मे उसकी सगिनी होने वाली स्त्री को अपनी श्रद्धा वह न दे सकेगा और इस तरह अपने मार्ग पर उसे अपनी सहयोगिनी न बना लेगा ? मैं विवाह और भोग को ईश्वरत्व से या ब्रह्मचर्य से विरुद्ध समझने की मजबूरी नहीं देखता हूँ। मुझे तो मालूम होता है कि उत्कट और दृढ भावना वाला व्यक्ति विवाह से अपने लिए बल ही प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न—विवाह के बन्धन से छूटकर व्यक्ति मानव-सेवा द्वारा जीवन-यापन करना चाहे, तो ?

उत्तर—विवाह से बचने को इधर-उधर जो राह खोज ही निकालने पर तुली दीखती हो, तो बताओ कि वह हौवा क्यो है ? मै तो देखता हूँ कि वह विवाह ही है जो हमे ससार मे पहुँचने का रास्ता देता है। अगर हम उसमे

प्रवेश करने से पूर्व यह श्रद्धा मन मे भर सके कि इस मार्ग का संसार पर अन्त नहीं है, तो उसमे भय के समर्थन का कोई कारण शेष नहीं रहता। यह बाल हठ है कि कोई कहे कि बीस से अगले इक्कीसवे वर्ष में प्रवेश करूँगी या करूँगा ही नही। यह सिर्फ अहकार है, क्योंकि बीस की पूर्णता होते ही इक्कीसवाँ वर्ष अपने-आप उस पर आ जायगा। विवाह की ऐसी ही सहज परिणति मैं मानता हूँ। फूल कैसे जिद कर सकता है कि मैं फल नहीं बनूँगा? अपने रूप-गन्ध का मोह या अपनी निजता की समाप्ति का भय क्या उसे यह अधिकार दे सकता है? मैं कहूँगा कि वह फूल नहीं है, जो अपने को फल रूप लेने देना नहीं चाहता। हम स्थिति से चिपट कर नहीं रह सकते। परिणमन काल का धर्म है। बालिका और बालक के शरीर मे वय के साथ परिवर्तन होता है, क्या यह व्यर्थ है? किन्तु समझ हमे काल से घबरा सकती है। हो सकता है कि आगे देखने के बजाय तब हम पीठ फेरकर पीछे की तरफ मुँह लौटा रहें हो। तब सामना करने की सामर्थ्य कम और स्मृति का विलास हम मे अधिक हो जायगा। बढ़ने से इन्कार करना मरना है। सृष्टि करने मे भगवान् को एक से अनेक बनना पड़ा है। गुणित होना चैतन्य सत्ता का धर्म है। एक को दो और दो को तीन बनना ही पड़ेगा। इसमे भय या सकोच काम न देगा। तमाम दर्शन इससे उल्टे चलकर प्रमाद मात्र रह जायगा। प्रकृति इसलिए नही है कि हम को बचाती चले। बीज को फटना और फूटना होगा कि वृक्ष उगे। अपनी इयत्ता तक भी हमारी नहीं है। इसे हम अपने तक नहीं रोक सकते। हम को फैलना है, बढना है। हमे कालान्तर तक मे शेष रहना है। प्रजनन द्वारा व्यष्टि अपना समष्टि मे दान देता है। ऐसे वह समष्टिगत होता है। जानता हूँ, धर्म-शास्त्र हैं और उनमे नियम-संयम की बात है। पर वह ऊपर की बात से विरोधी नहीं है। विरोधी समझना धर्म को अधर्म बनाकर समझना है। ब्रह्मचर्य वह नहीं है जो जगत् को सुखाता है। वह

तो वह है जो सब को हरियाला करता है। हम भारी भूल करेंगे अगर स्रष्टा के नाम पर सृष्टि को बंजर और उजाड़ बनाने चल पड़ेंगे। मातृत्व का क्यों इतना मान है? क्योंकि उससे खून में से भी दूध बन आता है। नित्य के देखने की बात मानकर यह न समझें कि वह बड़ा चमत्कार नहीं है। मातृत्व हम समझ सकते है, वात्सल्य समझ सकते हैं, पर क्या इस शर्त पर कि उसका दायित्व हमें न उठाना पड़े? इस कायरता और भीरुता की हद है। धर्म वह नहीं हो सकता जो भीरु बनाए। असीम की और दिव्य की स्वीकृति की शक्ति देने वाला ही धर्म हो सकता है। जो काटे, लुंज करे, जीवन को ह्रस्व करे, उसको धर्म कहा जाय, तो अधर्म कहने को बाकी क्या रह जायगा?

प्रश्न—तब तो आप किसी ऐसे ऐतिहासिक व्यक्ति को मानते न होंगे जो भोग के बिना योगी बना हो?

उत्तर—मुझ पर ऐसे पुरुष को खोज निकालने का काम कैसे आता है?

प्रश्न—शुकदेव के लिए तो सुना जाता है कि वह बिना भोग के ही योगी हो गए?

उत्तर—उनमें एक शिशु-भाव था। इससे वे सिद्ध योगियों के लिए उस विषय में आदर्श-रूप कहे जा सकें। लेकिन ब्रह्मचर्य की वहाँ पूर्णता हो, तो अवतारी पुरुषों में उनकी गणना क्यों न हो? अर्थात् एकदेशीय आदर्श को मूर्त करने के लिए उनका उदाहरण है, पूर्णता वहाँ देखना या आरोपित करना गलत होगा।

प्रश्न—तो क्या निवृत्ति अपने-आप में सिद्ध नहीं हो सकती?

उत्तर—हाँ, अपने-आप में उसकी सिद्धि का कोई अर्थ नहीं है। अव्यक्त भाव की अपेक्षा से जो निवृत्ति है, वही व्यक्त रूप में प्रवृत्ति होती है। सिद्धि मुक्ति में है। और वह कर्म से सम्भव नहीं, कर्म में ही सम्भव है। कर्म-मात्र को जगत् भाषा में भोग कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें इन्द्रियों का योग आवश्यक है।

काम, प्रेम और पाप

प्रश्न—फ्रायड की तरह क्या आप भी कामेच्छा को सबके मूल मे मानते है ?

उत्तर—फ्रायड को काफी मैं जानता नहीं। जितना जानता हूँ उससे कह सकता हूँ कि मैं उनसे सहमत नही हूँ।

प्रश्न—अर्थात् आप काम-शक्ति को सब कर्म-स्रोत के मूल मे नहीं मानते ?

उत्तर—आदि और अन्त मे ईश्वर को मानता हूँ। मध्य मे जो-कुछ माना जाता है, वह सापेक्ष तौर पर। इस प्रकार काम को मानने से मुझे इन्कार नहीं करना है।

प्रश्न—कामवासना और प्रेम मे परस्पर कुछ अन्तर मानते है या नही ?

उत्तर—सृष्टि और स्रष्टा मे क्या अन्तर है ? लेकिन सृष्टि मे जैसे मैल दीखता है, सो क्या स्रष्टा भी मैला है ? वही बात यहाँ समझो। चित्र मे उपयुक्त काला रग क्या चित्र के भाव को काला साबित कर सकता है ?

प्रश्न—शुद्ध-निर्मल प्रेम का रूप क्या माता का प्रेम अर्थात् वात्सल्य समझा जाय ?

उत्तर—विशुद्धता जहाँ सर्वथा सिद्ध है, वहाँ देह की स्थिति ही क्यो ? सदेहावस्था मे अपेक्षाकृत मैल दीखने का सदैव ही अवकाश है। कारण, उस अवस्था में हम व्यष्टि को समष्टि से अलग देख पाते हैं।

प्रश्न—वात्सल्य मे विशुद्धता कहाँ नष्ट होती है ? भोगलिप्सा की आकांक्षा से प्रेरित दाम्पत्य-भाव से तो यह वात्सल्य कही अधिक श्रेष्ठ है न ?

उत्तर—विशुद्धता की परिमाण-मात्रा मे अन्तर तो सब जगह सम्भव ही मानोगी ? स्वय वात्सल्य मे अनन्त तरतमता हो सकती है। राग जहाँ बहुत घना है, वहाँ माता अपने शिशु की रक्षा-चिन्ता मे क्रूर तक हो सकती है। दूसरी तरफ दाम्पत्य-सम्बन्ध मे तनिक निष्कामता साधने पर सात्त्विकता प्रकट हो सकती है। आशय कि सापेक्ष्य वस्तुओ का आपेक्षिक विचार ही उचित है। तत्त्वनिर्णय से अलग निरपेक्ष विचार साधक से प्रायः बाधक अधिक होता है। वह तो धर्म-निर्णय मे सगत और उपयोगी है। कर्म व्यक्तिगत होता है। इससे अमुक व्यक्ति की अपेक्षा मे ही उसकी समीचीन चर्चा सम्भव है।

प्रश्न—तब आप विभिन्न प्रकार के प्रेम-सम्बन्धों को क्या एक ही कक्षा मे रखते है ? विशेष अन्तर किसी मे कुछ नही मानते ?

उत्तर—मैं कहता हूँ न कि इन बातो मे सिद्धान्त बनाने की अनिवार्यता नहीं है। भाषा की और शब्दो की परस्पर स्पष्टता के लिए कुछ इस तरह का प्रयत्न करना पड़े, तो उपादेय हो सकता है, नहीं तो खानाबन्दी एक जगह जाकर जीवन को खोलने के बजाय उसको जकड चलती है। मूल शक्ति एक है प्रेम। तात्पर्य, सबमे आत्मिक अभेद होने के कारण परस्पर खींच है। इसी की नाना अभिव्यक्तियाँ हैं। माता और शिशु के खिचाव को वात्सल्य कह दो, स्त्री-पुरुष के बीच आकर्षण को काम कह दो, इत्यादि। प्रेम की सर्वत्र उपस्थिति से सब सम्बन्धो मे एक सम-सामान्यता है। उससे अलग देखें, तो सबमे भिन्नता है। यही क्यो, एक ही नाते मे घनत्व की अनन्त विविधता है। किन्हीं भी दो दम्पतियो की दाम्पत्य-स्थिति क्या समान हो सकती है ? नहीं हो सकती। इस तरह भेद की तरफ चलेंगे, तो व्यक्ति के तत्काल पर पहुँचना होगा—अर्थात् तत्क्षण की उसकी स्थिति की

अपेक्षा मे ही उस प्रकार का विचार संगत हो सकता है। अन्यथा विचार को अभेद की ओर चलना चाहिए। जीवन की और जीवन-विचार की गति सदा स्थूल से सूक्ष्म और भेद से अभेद की ओर है।

प्रश्न—इन विभिन्न प्रेमों की अभिव्यक्तियों की अनिष्टता अथवा इष्टता मे भी क्या आप विशेष अन्तर नहीं मानते ? उदाहरणार्थ वात्सल्य की अभिव्यक्ति मे प्रकट मे ऐसा कोई अनिष्ट नहीं दीखता, जैसा दाम्पत्य की अभिव्यक्ति मे ?

उत्तर—हर प्रेम सहायक है। हर स्वार्थ अथवा अहंकार बाधक है। लौकिक सब प्रेम स्वार्थाहुति और स्वार्थ-पूर्ति के मिश्रण हैं। इसलिए सभी किंचित् बाधक और क्वचित् साधक हैं।

प्रश्न—तब क्या कारण है कि एक नवयुवक विवाहोपरान्त बचपन से साथ रही अपनी माता और बहनो की अपेक्षा नवागता पत्नी मे ही अत्यधिक आसक्त हो जाता है ?

उत्तर—प्रेम मे अशेष दान अनिवार्य है। किन्तु हममे शेष ऐसा भी बहुत-कुछ पडा है जिसे हम ही बुरा कहते हैं। उस बुराई को हम सहसा अपने से दूसरे मे देना नहीं चाहते। पत्नी वह है जिसके प्रति अपने बुरे अंश को देने से बचना हमारे लिए अनिवार्य नहीं रह जाता। इसी से वह सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ देखा जाता है। बहन और माता का सम्बन्ध कुछ औपचारिक होता है, उतना सर्वग्राही नहीं होता।

प्रश्न—इस घनिष्ठता मे क्या स्थायित्व भी अधिक होता है ?

उत्तर—क्यों, स्थायित्व होने मे क्या बाधा है ! हाँ, जिस क्षण उनमे परस्पर दुराव और छिपाव हो चलेगा, तब उनकी घनिष्ठता भी क्षीण होती जायगी। यहाँ तक कि वह सम्बन्ध उत्कट राग से आरम्भ करके विकट द्वेष मे पहुँच सकता है।

प्रश्न—तो फिर जब तक कोई दुराव न आवे, तब तक भोगा-

सक्त व्यक्ति के लिए वासना और कामना से छुटकारे के लिए कोई मार्ग ही नहीं ? वह जीवन-पर्यन्त ऐसे ही लिप्त पड़ी रहेगा ?

उत्तर—कहा न कि भोग अपने स्वभाव मे ही अधूरा है। इसलिए भोग रहकर वह सदा अशान्त है, सदा अतृप्त है, सदा व्यथित है। इससे अनिवार्य वह वितृष्णा को, विक्रिया को जन्म देता है। भोग का यह वश ही नही कि वह योग की आवश्यकता न पैदा करे—अर्थात् भोग मे से एक दिन योग निकलने ही वाला है। ऐसी श्रद्धा रखकर हम भोग के प्रति सहिष्णु और सहानुभूतिशील होना सीख सकते हैं।

प्रश्न—भोग से जब वितृष्णा उत्पन्न होती है, तो क्या भोग के पात्र से भी आवश्यक तौर पर घृणा हो जायगी ?

उत्तर—हॉ, ऐसा भी होता है, पर आवश्यक तौर पर नहीं। भोग स्वय घृणा को जन्म देता है। इससे घृणा भोग को कभी नहीं काट सकती, उल्टे पुष्ट ही कर सकती है। भोग से विराग तभी सम्भव है, जब आधार मे प्रेम हो—अर्थात् पत्नी-प्रेम ही एक समय उसके प्रति हममे निष्कामता जगा देगा। परस्पर भोग वर्तमान है, तब तक वहॉ घृणा के बीज भी वर्तमान हैं। भोग की वितृष्णा इस प्रकार भोग्य समझे गए व्यक्ति के प्रति, ईमानदार होकर यदि चले तो, प्रेम भाव बढाने मे ही सहायक होनी चाहिए।

प्रश्न—तो क्या व्यक्ति को अपनी भोग वासना पर कोई मर्यादा रखने की आवश्यकता नहीं—अपनी इच्छानुसार वह वासना के कीचड़ मे फॅसता ही चला जाय ?

उत्तर—मर्यादा कौन रखे ? वह स्वय ही न ? वह स्वय ही रखता है, इसका मतलब है कि रखने की इच्छा करता है और प्रयत्न करता है। क्या इसी मे इच्छानुसारी वर्तन नही आ जाता ? मेरा मानना तो यह है कि अपने अनुसार वर्तन नहीं करते हैं, तभी हम मर्यादा नष्ट करते हैं। कारण, प्रेम से मर्यादाओ की सृष्टि होती है। अप्रेम ही उन्हे भ्रष्ट करता है। दरअसल

अपने आभ्यन्तर,मे हम प्रेम ही हैं। इससे आत्मानुसारी वर्तन मर्यादाशील होता है और सामाजिक रेखाओ का निर्माण करता है। दीख-भर सकता है कि उससे मर्यादा का भंग हो रहा है, पर वह भ्रम है। जीर्ण रूढि ही उससे टूट सकती है कि नई सजीव मर्यादा-रेखा का उसकी जगह उद्भव हो।

प्रश्न—देखा तो यह जाता है कि जितना ही मनुष्य वासना की तृप्ति की चेष्टा करता है, वह बढ़ती ही जाती है—इतनी अधिक कि मर्यादा का नितान्त उल्लंघन होने लगता है। छुटकारे का कोई रास्ता नहीं दीखता। ऐसे व्यक्ति को मर्यादा का ध्यान दिलाने मे क्या कोई दूसरा व्यक्ति सहायक हो सकता है ?

उत्तर—बिल्कुल नही हो सकता, क्योकि इस ध्यान का वहाँ अवकाश ही नही है। मर्यादा पुरुषोत्तम को क्या मर्यादा की रेखा की याद रखनी पडती होगी ? यह विचार ही प्रमाद है। लेकिन इन शब्दों का वही अर्थ लेना जो है। यानी सहानुभूति से हीन होकर कोई सहायता या सुधार सम्भव नही है।

प्रश्न—ऐसे व्यक्ति के आचरण से दूसरो के जीवन पर जो प्रभाव पड़ता है, उन पर जो कष्ट पड़ता है, उसके लिए वे क्या करे ?

उत्तर—दूसरों से सवाल शुरू ही नही होता। सवाल को अपने से दूसरे पर भेजकर उसके हल के तरफ नहीं बढ़ा जा सकता। विचार स्वकीय ही हो सकता है। परात्म-विचार मिथ्या है।

प्रश्न—परात्म का प्रश्न नहीं है, अपना ही है। अपने से निकट व्यक्ति के आचरण से जो अपने ऊपर कष्ट पड़ रहा है, उससे मुक्ति का क्या उपाय है ? जैसे एक शराबी और व्यभिचारी पति द्वारा पत्नी के ऊपर पड़े उस कष्ट का क्या उपाय है ?

उत्तर—उपाय यह है कि (१) पत्नी समझे कि शराबी सिर्फ शराबी या

मैत्री ही नहीं है, बल्कि गुणी भी है। मैत्री से अधिक उसके गुणी रूप मे विश्वास रखे और उस विश्वास को अपने से कभी न खोए। (२) इस हालत मे उससे मिलने वाला सब कष्ट वह सुख से सहेगी और वापस करके उसको वह कष्ट नही देगी, बल्कि जैसे बीमार बच्चे की करते हैं, वैसी सेवा करेगी। (३) तब शराब का उसे वर्जन करेगी। (४) बहुत सम्भव है कि उसके कहने का परिणाम उल्टा हो। तब वह कहना भी छोड देगी, सेवा ही करेगी। उसका भी उल्टा परिणाम दीखता हो, तो उसकी अन्तस्थ साधुता पर उसकी निष्ठा कम है या सेवा की तत्परता मे त्रुटि है, ऐसा मानकर तत्काल के लिए उसके प्रति तटस्थ बनकर, उसके प्रति अपनी सवेदना बढाने और इस तरह अपना सस्कार और सुधार करने मे लगेगी।

प्रश्न—ऐसी कामुकता का आप क्या कोई मनोवैज्ञानिक कारण भी दे सकते है, जहाँ घर मे पत्नी के होते हुए भी व्यक्ति अन्यत्र भटकते फिरते है ?

उत्तर—यह तो उस व्यक्ति का हित चाहने वालो को सोचने मे लगना ही होगा। निश्चय ही अन्दर के द्वन्द्व की कोई विवशता उससे ऐसा कराती है। उसके प्रति क्रूर होने से वह उस ओर से विरत होता है, ऐसा मैं नहीं मान पाता हूँ। मूलत काम सदा केन्द्र-हीन है। वह सब ओर दौडता है। केन्द्र व्यक्ति की श्रद्धा मे है। जो श्रद्धा-विहीन है वह काम का शिकार न हो, यह भला कैसे सम्भव है ? इसलिए जिसका तुम कारण पूछती हो, उसे मैं अपनी ओर से अकारण या प्रकृत भी कह दूँ, तो कोई हानि नही है। पत्नी को काम्य और भोग्य मानना यदि स्वीकार है, तो उप-पत्नी को भी किसी-न-किसी चोर-मार्ग से आ ही जाना है। पत्नी को यदि माने कि धर्मसगिनी है, तभी उस अनिष्ट से बचा जा सकता है।

प्रश्न—श्रद्धा से आपका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—श्रद्धा वह जिसमे अपने को देने और खोने की चाह हो।

लेने और पाने का आग्रह काम का लक्षण है।

प्रश्न—कामुक व्यक्ति क्या नितान्त श्रद्धाविहीन हो सकता है?

उत्तर—नितान्त कामुक कोई नहीं हो सकता—अर्थात् कामुकता की सीमा है। इस तरह नितान्त श्रद्धाहीनता भी सम्भव नहीं है। जाने-अनजाने सब मे श्रद्धा किंचित् रहती है और हर पुरुष के जीवन मे कोई स्त्री अवश्य ऐसी होती है, जिसके प्रति उसमे कामना से अधिक भक्ति है। उसके वह पैर तो छू सकता है, भोग की कल्पना भी नहीं कर सकता।

प्रश्न—कामी और भोगी पुरुष को भी आप पापी नहीं मानते, तो श्रद्धा वाले और कामी पुरुष की अलग-अलग गति को स्पष्ट कीजिए?

उत्तर—प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रेम की सार्थकता तरह-तरह के सम्बन्धों से प्राप्त करता है। वे सम्बन्ध परस्पर विशिष्ट होते हैं। जैसे एक व्यक्ति ही किसी का पिता, किसी का भाई, किसी का पुत्र और किसी का पति होता है। इन सब सम्बन्धो की अपनी-अपनी मर्यादा है। इससे कह सकते है कि समग्र सम्बन्ध इनमे कोई एक भी नहीं है। एक के प्रति आदर और सेवा का सम्बन्ध है, दूसरे के प्रति लाड-चाव का, तीसरे के प्रति स्नेह-सहानुभूति का, चौथे के प्रति कामना का। जैसे सेवा, ममता, सहानुभूति और कामना ये चार तत्त्व हो, और परस्पर अलग और दूर हो। वैसे खाने जीवन मे नहीं हैं। इसलिए अक्सर व्यवहार मे गडबड़ हुआ करती है। साधारणतया नाना सम्बन्ध या भाव परस्पर पूरक होते हैं। लेकिन तनिक असावधानी पर वे एक-दूसरे पर दबाव दे आते हैं। ननद-भावज, सास-बहू, और इसी प्रकार के अनेकानेक झगडे इस विलगीकरण और विभक्तिकरण के कारण होते है। सकामता इसी तरह वर्त्तन करने को वाध्य है। परिणाम यह होता है कि पुरुष एक का पति और दूसरे का प्रेमी है, अथवा स्त्री एक की पत्नी है और दूसरे की प्रेयसी है। एक ही स्त्री को पति नामक पुरुष से दुत्कार और

तिरस्कार मिलता है, और दूसरे पुरुष से सत्कार और पुरस्कार मिलता है। स्त्री वही है, पुरुष वही है, किन्तु दोनो मे एक रूप अभ्यर्थनीय और दूसरा तिरस्करणीय दीख पडता है। पिता जिस कन्या को चॉटे मारने लायक समझता है, युवक प्रेमी उसी के चरणो पर अपनी पूजा न्योछावर करता है। यह विचित्रताएँ इसीलिए है कि व्यक्ति सब ओर से अपने समग्र प्रेम की परिपूर्णता खोजता और लेता है। इसमे वह उस प्रेम को नाना विभावो और विभागो मे विभक्त कर लेता है। यह भोगी पुरुष की गति है। इसमे स्पष्ट ही विषमता दीखती है। अब योगी पुरुष अविभक्त बनता है। वह सबमें समता रखता है। उस समता को विराग की भाषा इसी से दे सकते है कि राग वहाँ विभक्त और विषम नहीं है। इससे अन्यथा वैराग्य को समझना उसे गलत समझना है। अन्तर इतना ही है कि राग वहाँ प्रेम है, इसलिए द्वेष की वहाँ आवश्यकता नही है। ऐसे पुरुष मे प्रेम इतना अखण्ड होकर रहता है कि उसे अलग-अलग स्त्रियो के प्रति अलग-अलग रूप नही लेने होते। वह एक-एक के, इस तरह हरएक के, प्रति सम्पूर्ण भाव से प्रदत्त है। इससे एकांगी विशेषण उसके किसी सम्बन्ध को पूरे ढँक या प्रकटा नही सकते। कहा जा सकता है कि जो जिस रूप मे उसे लेता है उसी रूप मे पाता है। कृष्ण के प्रति राधा के प्रेम को कौन विशेषण पूरी तरह पा सकता है? सभी भाव उसमे है और कोई अनुपस्थित नही। इससे उसे निर्गुण और अतीन्द्रिय भी कह सकते हैं।

प्रश्न—पाप आप किसे कहते है फिर?

उत्तर—द्वन्द्व पाप है।

उत्तर—द्वन्द्व से मुक्ति का उपाय क्या है?

उत्तर—कार्य वचन से, वचन मन से और मन आत्मा से, आदेश लेकर चले। इससे मन-वच-कर्म की एकता फिर आत्मा से योग साधेगी। ऐसे द्वन्द्व के लिए अवकाश न रहेगा।

प्रश्न—कृष्ण के प्रति राधा के प्रेम से क्या प्रेयसी-भाव ही न था ? अन्य रूप उसे कैसे दिये जा सकते है ?

उत्तर—यानि उसमे वात्सल्य, भक्ति अथवा मैत्री-भाव आदि का अवकश नही था ? नही, ऐसा मैं नहीं मानता हूँ। उनका परस्पर सम्बन्ध केवल कामोत्तेजना का होता तो उसमे घृणा और हिंसा का भी होना अनिवार्य था। अर्थात् तब उसे पवित्र पूज्य भाव से देखा ही नहीं जा सकता था। मेरा तो मानना है कि राधा के प्रेम मे इतनी समग्रता थी कि उसे प्रेयसी-प्रेम का नाम देकर सही तौर पर व्यक्त नही कर सकते, केवलमात्र इंगित कर सकते हैं।

प्रश्न—राधा के लिए कृष्ण परपुरुष थे। उनसे प्रेम द्वारा क्या राधा के पति के मन मे तथा पति के घर से विरोध भाव न उठा होगा और घृणा न फैली होगी ? ऐसे प्रेम को फिर आप समग्र कैसे कहते है ?

उत्तर—आरम्भ मे विरोध उठा हो, यह हो सकता है। पर अन्त तक वह टिका नही रहा होगा। समग्र विशेषण का प्रयोग केवल राधा की अपेक्षा से है, किन्हीं इतर आँखो की अपेक्षा से नहीं। कामुक कामना के भीतर ही हिंसा और घृणा विद्यमान रहती है, वैसा राधा के सम्बन्ध मे सम्भव नही है।

प्रश्न—राधा के सम्बन्ध मे क्यों सम्भव नही है ?

उत्तर—वैसी कामना अभाव और वियोग कुछ सह नहीं सकती। या तो उस पर उफन पड़ती है, या फिर शनैः-शनैः कुछ समय बाद ठंडी हो जाती है। उसमे प्रतिद्वन्द्विता की भावना भी अनिवार्य्य है। उसके आधार मे वैषम्य होता है। राधा के जीवन मे इस सब का कोई लक्षण नहीं है। कृष्ण की भक्ति उनके अभाव मे राधा के मन मे क्या फीकी पडी ! अथवा कि उसने राधा के जीवन मे कोई विषमता पैदा की ? नही, ऐसा प्रतीत नही होता। इसलिए उस प्रेम की वृत्ति को एकागी मानना कठिन है। उसे समग्र और सर्वांगीण ही मानना पडता है।

प्रश्न—तब क्या आप राधा के कृष्ण के प्रति आकर्षण को साधारण युवक-युवती के आकर्षण से कुछ भिन्न मानते है ?

उत्तर—हाँ—

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—क्योकि साधारण युवक-युवती मे जो परिणाम देखने मे आता है वह वहाँ नहीं है।

प्रश्न—राधा के कृष्ण के प्रति ऐसे आकर्षण के पीछे क्या कारण रहे होंगे ?

उत्तर—यह प्रश्न कठिन है। शायद कृष्ण का व्यक्तित्व मुख्य कारण रहा हो।

प्रश्न—ऐसा व्यक्तित्व जो पवित्र प्रेम को ही आकर्षित करे किन तत्वों का बना होता है, क्या आप इसका विश्लेषण कर सकेंगे ?

उत्तर—पवित्रता शब्द फिर रुचि और अरुचि का बोधक है। हमने प्रेम को खानो मे बॉट दिया है, और शरीर जहॉ उपस्थित है वहॉ अपवित्र और अनुपस्थित है वहॉ पवित्रता की भावना को बिठा दिया है। मै उस तरह नही देख पाता। मै मानता हूँ कि जो अधूरा है वह तृष्णार्त है। जो पूरा है, अर्थात् जिस समर्पण मे अपना कुछ भी बचा कर नही रखा गया है, अपना अग तक भी नही, वह यथार्थ है। पवित्रता के लिए भी वह आदर्श बनता है, यद्यपि पवित्र शब्द उसे ढॅक नही पाता। राधा के प्रेम को अपवित्र तो कह ही नहीं सकते, पर पवित्र से वह इतना अधिक है कि पवित्र कहकर भी चुप बैठा नही जा सकता।

यह समग्र प्रेम दूसरी ओर की किस शक्ति ने उसमे पैदा किया ? यो तो इसके उत्तर मे स्वय कृष्ण के नाम से कुछ अतिरिक्त कहना अनावश्यक होना चाहिए, कृष्ण जिनको पिछली पीढियो के लिए भगवत् रूप देकर ही देखना सम्भव हुआ। लेकिन केवल कृष्ण नाम से सन्तोष उनको कैसे हो जो उन्हे

सशरीर सीमित व्यक्ति के रूप मे देखते हो। इसलिए आग्रह है कि कृष्ण नाम न देकर उस शक्ति को जिसने राधा मे वह समग्र और पवित्र प्रेम उपजाया कुछ समझ-बूझ वाली हम सज्ञा दे। तो यह मान लो कि कृष्ण मे एक निष्काम कामना थी, जीवन का एक प्रफुल्ल आवेग था, कोई अहकृत वासना नहीं। कह सकते हैं कि उनमे प्रेम तत्व निजीय होकर नही मानवीय होकर प्रकटा था। उसमे अपने लिए मॉग न थी, वस एक प्रकृत आनन्द का आत्मर्पण था।

यह तत्त्व हम-तुम से एकदम अपरिचित है ऐसा हम न मान ले। सामान्यतः उसका अनुभव सभी को अपने जीवन मे मिला हो सकता है। हम निरन्तर इन्द्रियाधीन ही नही रहते, ऐसे क्षण सभी को प्राप्त होते है जब एक प्रकार के अतीन्द्रिय प्रेम की अनुभूति होती है, जो निजता से जडित नही होता बल्कि निजत्व जिसमे डूबकर रह जाता है।

जो क्षण के अश के लिए हम सब को यदा-कदा प्राप्त हो जाया करता है, वह भाव कृष्ण मे बहुत-कुछ स्थायी होकर रहा यह मानना श्रद्धायुक्त कल्पना के लिए असम्भव नहीं होना चाहिए।

प्रश्न—तब इस प्रकार के स्थायी रूप मे रहने वाले मानवीय प्रेम को ही क्या आप योग मानते है?

उत्तर—हॉ।

प्रश्न—ऐसे योगी पुरुष की दृष्टि से तो सब के प्रति एक भाव ही रहता होगा—एक राधा क्या—सारा विश्व ही राधामय हो बना होगा??

उत्तर—जो इन्द्रियो के माध्यम से हमे भेद दीखता है, अभेदानुभूति का मतलब उसके प्रति निपट अन्धापन नही है। अभेद मे भेद समाहित है, नष्ट नहीं है। अर्थात् योगी के लिए व्यावहारिक मनुष्य की भॉति वर्त्तन करना कठिन नहीं, बल्कि और सहज होता है। व्यावहारिक वर्त्तन भेद-दर्शन पर बनता है। अभेद-श्रद्धा से वह इन्द्रिय-दर्शन नष्ट नही उल्टे स्पष्ट होता है।

उस दर्शन की सापेक्षता हर क्षण प्रकट रहने से उसका बन्धन ही योगी के लिए नाश पाता है उपयोगिता समाप्त नहीं होती।

प्रश्न—इन्द्रियों से दीखने वाले भेद के प्रति निपट अन्धापन से आपका क्या तात्पर्य है? योगी के लिए व्यवहार सहज कैसे होता है? अभेद-श्रद्धा से इन्द्रिय-दर्शन स्पष्ट कैसे होता है तथा योगी के लिए इन्द्रिय-वर्त्तन से बन्धन कैसे नष्ट होता है? यह सब कुछ समझ में नहीं आया।

उत्तर—इन्द्रियों से हमें नाना वर्ण, नाना आकार, और नाना स्वभाव की प्रतीति होती है। माता, बहन, पत्नी, पुत्री, हरा, काला, पीला, छोटा, बड़ा, ऊँचा, नीचा, आदि की प्रतीति इन्द्रिय-बुद्धि द्वारा हम ग्रहण करते हैं। योग की अभेद निष्ठा का अभिप्राय यह नहीं है कि वह भेदात्मक प्रतीति अनुपलब्ध हो जाय।

यदि भेद की प्रतीति है, और उसके नीचे अभेद की पहिचान भी है, तो योगी के लिए सदा समन्वय सुलभ रहेगा और बड़े को छोटे के, ऊँच को नीच के, पत्नी को भगिनी के और काले को उजले के विरोध में रखने के सङ्कट में वह नहीं पड़ेगा। इस प्रकार व्यवहार-वर्त्तन उसके लिए औरों से अधिक सहज हो जाना चाहिए।

विभिन्न जहाँ अपने-अपने स्थान पर रहते हैं और परस्पर में रगड़ उत्पन्न नहीं करते वहाँ दृष्टि के स्पष्ट बने रहने की ही सम्भावना है।

भेद जहाँ राग द्वेष उत्पन्न करता है, एक में रति और दूसरे में जुगुप्सा की सृष्टि करता है, वहाँ दृष्टि वैज्ञानिक नहीं रहती, समभाव नष्ट होता है, और परिस्थिति व्यक्ति के लिए जकड़ बन जाती है। योगी पुरुष के लिए प्रत्येक परिस्थिति एक अधिष्ठान है। भोग की वृत्ति आते ही वह परिस्थिति उसके लिए बेड़ी बन जाती है।

क्या मैं समझूँ कि बात अब तुम्हारे लिए उतनी अस्पष्ट नहीं रही?

प्रश्न—जब प्रत्येक परिस्थिति योगी के लिए बन्धन का कारण नही होती तब क्या वह दूसरे के सुख-दुख के प्रभाव से भी अतीत हो जाता है ?

उत्तर—नहीं, बल्कि उनसे उत्तरोत्तर समरस होता है। दिये पर जैसे चिमनी उसके प्रकाश को रोकती नहीं है, बाहर की ओर जाने मे सहायक होती है और भीतर दीपक को सुरक्षित रखती है, परिस्थिति योगी पुरुष के सम्बन्ध मे वैसा ही रूप पा जाती है। अर्थात् वह उसे बन्द नहीं करती बल्कि स्वस्थ और प्रकाशित करती है। कामना से ग्रस्त कामी पुरुष उस परिस्थिति की मर्य्यादा से हठात् टकराते रहकर उसे जड और जकड बना देता है। निषेधपूर्वक टकराकर उसे मजबूत करता है, स्वीकारपूर्वक आत्मता देकर उसे सामयिक नहीं बना पाता। भोग और योग वृत्ति का यह अन्तर मौलिक है और उसे पहिचानने मे कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

प्रश्न—दुःख और सुख से प्रभावित होते हुए वह आत्मा की समरसता, ब्रह्मानन्द, द्वन्द्वातीत सुख की स्थिति कैसे प्राप्त कर सकता है ?

उत्तर—द्वन्द्वातीत अवस्था मे न स्थिति सुख की है न दुःख की। वह अवस्था अनिर्वचनीय है। योगावस्था शब्द के सम्पूर्ण अर्थ मे निर्द्वैत या निर्द्वन्द्व है ऐसा नहीं मानना चाहिए। है यह कि उसके लिए द्वन्द्व और द्वैत सब ओर से मुक्त होकर केवल एकस्थ और एकाग्र हो रहता है अपने और भगवान् के, आत्म और परमात्म के द्वैत-द्वन्द्व के रूप मे। इस अथाह व्यथा और वियोग को सुख की स्थिति कहा जाय या दुःख की, मेरे लिए निर्णय करना कठिन है। यह स्थिति औरों के सुख-दुःख से कटकर अलग हो विराजने की स्थिति नहीं है, बल्कि उससे उत्तरोत्तर एकीकरण प्राप्त करने की है। जहाँ यह जीवात्म और परमात्म के बीच की विरह-वेदना भी नहीं है उस नितान्त निर्मल कैवल्यावस्था को शब्द मे भी हम कैसे मुँह पर लाएँ ?

प्रश्न—उत्तरोत्तर औरो के दु ख से एकीभाव होने का तात्पर्य यह हुआ कि साधारण मनुष्य से भी अधिक एक योगी वेदना की स्थिति मे रहेगा ? दूसरो के दु ख से इस प्रकार आन्दोलित होना क्या ईश्वरीय न्याय मे अश्रद्धा का द्योतक नहीं है ?

उत्तर—नहीं, ईश्वरीय न्याय को अपनी बुद्धि मे आकलित कर सकने की असमर्थता का ही द्योतक है। और यह असमर्थता एक पूँजी है जिसमे से चेष्टा निकलती है। अर्थात् असमर्थता ईश्वर की ओर से ही व्यक्ति को इसलिए दी गई है कि वह जीवन को सतत पुरुषार्थ से भरता रहे और इस तरह काल को विकास की सार्थकता देता रहे। निश्चेष्टता ही नास्तिकता का प्रमाण माना जा सकता है। आस्तिक भाव मे तो प्रबुद्ध कर्म-चेष्टा अजस्र प्रस्फुटित होती रहनी चाहिए।

हाँ, वेदना ही भक्त पुरुष की पूँजी है और वह उसे भगवान् के परम प्रसाद के रूप मे स्वीकार करता है। विश्व की समस्त वेदना अपना सकने की ओर ही उसकी साधना है। दूसरी तरफ अहंता चलती है, आस्तिकता नही।

प्रश्न—ईश्वर के सामने अपनी असमर्थता से अवगत होने के कारण जो कुछ वह करेगा इसी दृष्टि से तो करेगा कि ईश्वर को जितना मंजूर है उतने तक ही मेरा वश है बाकी पर नहीं, इसलिए कर्म मे अपना आग्रह कोई न रहे तथा दृष्टि निरपेक्ष रहे ?

उत्तर—हाँ, आस्तिकता के कारण उसमे कर्म की मन्दता आने के लिए कही अवकाश नही है। फिर भी कर्तृत्व का अहकार उसमे नही हो सकता, न अपने पन का आग्रह, न फल मे आसक्ति, न किसी प्रकार का उद्वेग अथवा निराशा। बुद्धि और इन्द्रिय के ज्ञान मे और श्रद्धागत विश्वास मे कुछ अन्तर तो रहेगा ही। उस अन्तर को दूर करने की विकलता मे, अर्थात् इन्द्रिय-बुद्धि को श्रद्धा की स्थिति तक उन्नत कर ले जाने की साधना मे, से उसकी समस्त प्रयत्न-चेष्टा निकलेगी। आन्तरिक विकलता

उसकी इस कर्म-चेष्टा को सदा ही उद्दीप्त रखेगी और कभी बुझने न देगी। भीतर की उस प्राणों की बेचैनी में से प्रेरणा पाते रहने के कारण वह कर्म बाहरी आकांक्षाओं से मलिन न होगा और इस तरह उलझन पैदा करने के बजाय उसको काटेगा।

प्रश्न—अन्तर की विकलता से उत्पन्न जो सर्वात्म-प्रेम होता है क्या वही अपने-आप में कर्म का सार-उद्देश्य पूरा नहीं कर देता ? क्या शरीर द्वारा कर्म करने की आवश्यकता सिद्ध पुरुष के लिए भी अनिवार्य होती है ?

उत्तर—कर्म उद्देश्य नहीं है, अथवा कि कर्म में कोई अलग उद्देश्य नहीं है। वह तो जीवन-स्थिति की निरी अनिवार्यता है। उठना-बैठना, खाना-पीना, साँस लेना, सोचना-विचारना आखिर कर्म ही हैं। शरीर एक क्षण भी कर्महीन होकर जी सकता नहीं। शायद कर्म से तुम्हारा आशय उस बृहत् कर्म या योजना-बद्ध कर्म से है जिसका राजनीतिक जगत् में बोल-बाला है। उस ओर से कर्म तत्व को ग्रहण करना मेरे अभिप्राय से दूर चले जाना है। प्रेम की विकलता में से प्रेरणा-प्राप्त कर्म स्वल्प होकर भी महान् हो सकता है। आकांक्षाजन्य चेष्टा में से निकला बृहत् कर्म भी हो सकता है कि स्वल्प मूल्य का न ठहरे। इसलिए प्रेम से हटाकर जीवन की सारता को मैं कर्म में डाल देना चाहता हूँ ऐसा मत समझो। पर प्रेम कर्महीन रह कर क्या कभी सार्थक हो सका है ? प्रेम सेवा-भाव जगाए और सेवा-कार्य सुझाए बिना रह ही नहीं सकता। उसकी अपनी ही चरितार्थता इसमें है।

प्रश्न—शरीर रहते मनुष्य उस सिद्धावस्था को क्या नहीं प्राप्त कर सकता जबकि वह ब्रह्मानन्द में लीन रहे, संसार की कोई चिन्ता उसे न स्पर्श करे, प्रेम स्वतः ही उससे फूटता हो ?

उत्तर—शरीर से प्रेम स्वतः फूटता हो इसका मतलब क्या यही नहीं है कि आँख की दृष्टि में प्रेम हो, हाथों के व्यापार में से वह झलके,

पैरो द्वारा चलने-फिरने मे से उसका आभास प्राप्त हो, वाणी मे से वही झलके, मस्तिष्क के विचार मे उसी का आप्लावन हो। इसी मे देखोगी कि शरीर के लिए अपनी शारीरिकता निबाहने की रोक जरूरी नहीं है। शरीर का अर्थ क्या फिर ससार नहीं है? शरीर भौतिक अर्थ मे कुछ लेता है कुछ देता है—आहार-विहार, श्वास-प्रश्वास उसके साथ लगा ही है। इसलिए शरीर रहते असासारिक होने की आशा मुझे तो अनावश्यक लगती है। ससार यदि भगवान् का है तो सासारिक होना भगवत्-द्रोह क्यो है। यदि भगवान् नही है तो फिर ससार है ही नही। इसलिए ससार और भगवान् को विरोध की भाषा देकर टकराने से कोई लाभ होता नही दीखता। अशरीरी होने के साथ अकर्मी सहज-भाव से होना मिल जाय, लेकिन सशरीरावस्था मे उसी तरह सहज-भाव से कर्म-प्रवृत्त रहने मे अन्यथा क्या है। कर्म-वियुक्तता मे अध्यात्म की रक्षा मै किस प्रकार देखूँ, समझ नहीं आता। भक्ति और प्रेम को शरीर द्वारा प्रकट होकर अनायास कर्म का रूप मिल आता है। भक्ति यदि तत्पर है तो कर्म के तल पर फूटे और प्रकटे बिना नही रह सकती।

प्रश्न—शरीर रहते हुए भी योगी आत्मा से परमात्मा के साथ इतना युक्त हो जाय कि परमात्मा मे ही तदाकार अनुभव करे तब उसके लिए फिर क्या करने-धरने को बाकी रहेगा?

उत्तर—जो सदा लीलामय है उसके साथ तदाकारता मे प्रवृत्ति-हीनता का समावेश कैसे किया जा सकेगा? वह लीलामय है, व्यक्ति को लीलाहीन होने का अधिकार कैसे हो सकता है। लीला वह कर्म है जिसमे आसक्ति नही, विरक्ति नही है।

प्रेम, रोमांस और विवाह

प्रश्न—आजकल प्रचलित प्रेम-विवाह क्या सफल होते है ?

उत्तर—नहीं होते, और मेरे विचार मे नहीं हो सकते। कारण, विवाह मे प्रेम (आकाक्षा) का आग्रह उतना अनिवार्य नहीं, जितना माता, पिता, गुरुजन, बन्धु-बान्धव का सहयोग और आशीर्वाद है। विवाह सामाजिक सस्था है। उससे परिवार बनता है, जो समाज की इकाई है। उसे केवल दो का निजी सम्बन्ध समझना और उस आधार पर विवाह को स्थापित करना गलत होगा। क्योंकि तब उसकी भूमिका सामाजिक न होकर कामुक होगी। उसमे से सफलता फिर कैसे प्राप्त होगी?

प्रश्न—क्यों, सफलता प्राप्त होने मे क्या बाधा है ? जब परस्पर उन दोनों को दीखता है कि एक के बिना दूसरे का जीवन शून्य है, तो एक-दूसरे को प्राप्त कर अपनी कल्पना के अनुसार क्या वे सुखी न रह सकेंगे ?

उत्तर—कल्पना के अनुसार? नहीं, नहीं रह सकेंगे। उस कल्पना पर कर्म चलायेंगे, तो सुख के नाम पर दुःख ही मुट्ठी में आयगा।

प्रश्न—कर्म चलाने से क्या बाधा उत्पन्न होगी ?

उत्तर—उससे कल्पना टूट चलेगी और जान पड़ेगा कि यथार्थ कल्पना का व्यग्य बनकर उठता आ रहा है। इसमे खीझ होगी, झुँझलाहट होगी और जहाँ प्रेम हुआ वहीं घृणा होने लग जायगी। ध्यान रखे कि प्रेम व्यक्ति से नहीं होता, व्यक्ति के उपलक्ष से होता है। जहाँ आसक्तिपूर्वक

व्यक्ति को ही इष्ट मान लिया जाता है, वहाँ निराशा हाथ आती है। कल्पना तक तो ठीक है, कल्पना व्यक्ति को दोषों से उत्तीर्ण करके मानो केवल गुण के प्रतीक-रूप मे लेती है। लेकिन काम तो गुण से चलता नहीं। वह तो सशरीर व्यक्ति को माँगता है। इससे कर्म मे जिस यथार्थ का हमे परिचय होता है, वह कल्पित आदर्श से भिन्न ही नहीं, विपरीत तक दीख आता है। सुन्दर देखकर जिसे लिया था, लेने के साथ उसी मे असुन्दरता दीख चलती है। तब द्वन्द्व उपस्थित होता है जो क्लेश और पाप उपजाता है।

प्रश्न—जब व्यक्ति स्वय सामने वर्तमान रहता है परिचय के लिए, तो फिर उपलक्ष से प्रेम करना आप क्यों कहते हैं ?

उत्तर—जो व्यक्ति वर्तमान रहता है, वह उपलक्ष्य ही तो है। यदि लक्ष्य वह हो, तो प्रेम फिर स्थानान्तरित न हो। पर प्रेम पीछे द्वेष को जन्म दे रहता है, या फीका पड जाता है, सो क्यो ? प्रेम के हर इतिहास में जान पड़ेगा कि प्रेम जहाँ होता दीखता है, लक्ष्य उसका उसके परे होता है। अर्थात् जाने-अनजाने हम प्रेम उसको करते हैं जो, सामयिक तौर पर सही, हमे आदर्श से तत्सम दीख आता है। जिसके उपलक्ष्य से हमारा स्वप्न हमारे निकट सचित्र होता है, जिसके उपलक्ष्य से मानो हम अपनी सीमा से मुक्त होते है, अपनी क्षुद्रता को विशालता मे उठता अनुभव करते हैं, उसकी ओर बलात् हम प्रेम से खिचते है। जब उसमे लक्ष्य का आभास प्राप्त नहीं होता, बल्कि उल्टे उसके कारण लक्ष्य दुर्लभ होता है, तब उपयुक्त उपलक्ष्य विरक्ति का कारण होता है। अर्थात् चाहे-अनचाहे हमारा प्रेम विशिष्ट व्यक्ति पर न रुककर निर्विशिष्ट समष्टि मे ही जाता है।

प्रश्न—इस प्रेम के उत्तर मे दूसरी ओर से प्रेम आवश्यक रूप से खिच ही आता है क्या ?

उत्तर—दूसरी ओर की बात नहीं की जा सकती। जिसको दूसरी कहते

हैं; अपनी निज की अपेक्षा से क्या वह पहली ही नहीं है? पहली बनाकर ही उसका विचार किया जा सकता है। अर्थात् दूसरे को लेकर कुछ भी निश्चय से या नियम से नहीं कहा जा सकता। ऐसा कह सकने के लिए यह मानना होगा कि उस दूसरे में अपना स्वत्त्व नहीं है। पर कोई नहीं है जिसका अपना निजत्व भी कुछ न हो। कुछ भी अपने अन्तर्गत नियम से अन्यथा नहीं हो सकता। इसलिए हमारा प्रेम दूसरे से क्या करायगा, यह प्रश्न ही नहीं उठता। हमारा प्रेम हमको विस्तृति देगा, इसलिए प्रसन्नता देगा, इतना ही यथेष्ट है। शेष में परिणाम का आग्रह नासमझी है, नास्तिकता है। परिणाम पर आसक्ति और आग्रह रखने का मतलब यह है कि हम दूसरे को अपना निजत्व रखने की छुट्टी नहीं देना चाहते। वह गलत है, वह हिंसा है। इसलिए धर्म-विचार, तत्त्व-विचार, परगत कभी होता ही नहीं, वह सदा स्वगत है। सच्चे अर्थों में स्वगत होकर ही वह समष्टिगत हो जाता है। कारण, एक में है वह सब में है। पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है।

प्रश्न—एक व्यक्ति के प्रेम का दूसरे पर असर तो पड़ता ही है न?

उत्तर—क्यों नहीं, अवश्य पड़ता है। किन्तु असर उस एक प्रेम के साथ और अनेक बातों का भी पड़ रहा है। किसी के प्रेम को यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरे की ओर से अमुक प्रभाव या परिणाम प्राप्त करना चाहे। प्रेम की सार्थकता अपने में है, न कि फल में।

प्रश्न—तो क्या ऐसा भी हो सकता है कि एक के प्रेम के बदले में दूसरा बिल्कुल प्रेम न दे?

उत्तर—ऐसा भी दीख सकता है। इससे आगे प्रेम के उत्तर में प्रेम-पात्र तिरस्कार और घृणा दे, यह भी दीख सकता है। फिर भी इस अश्रद्धा के लिए अवकाश नहीं है कि प्रेम प्रेम नहीं उपजाता।

प्रश्न—एक की घृणा का दूसरे के प्रेम पर भी तो असर पड़ेगा ही न? क्या फिर उसका प्रेम भी घृणा में ही परिवर्तित न हो जायगा?

उत्तर—शक्ति में घृणा मैं नहीं मानता, प्रेम मे ही मानता हूँ। प्रेम का विपर्यय ही घृणा है। घृणा का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इससे घृणा प्रेम को नहीं जीत सकती, नहीं बिगाड़ सकती। प्रभाव का विचार करना हो तो अन्त में घृणा को ही प्रेम का प्रभाव अपनाना है। प्रेम तो स्वयमत्र है, जब कि घृणा बिना सहारे हो नहीं सकती, वह प्रतिक्रिया है। इस तरह घृणा को मिटना है, प्रेम को जीतना है। प्रेम सदा अव्यर्थ है। इससे उल्टी आशका को स्थान ही नहीं। प्रेम के प्रत्युत्तर में आती हुई घृणा प्रेमी अथवा प्रेमिका के चित्त में विष घोल देती हुई दीख सकती है; ऐसा हो, तो कारण यह कि व्यक्तियों का आपसी प्रेम अपने भीतर अप्रेम यानी अहकार के तत्त्व भी लिए चलता है। या यों कह दो कि प्रेम आसक्ति और अह से मिश्रित होने के कारण चचल और अस्थिर व्यवहार करता है। लेकिन कुछ भी हो, इन सब उलझन-झमेलों के नीचे और पार प्रेम अपनी व्यथा द्वारा परस्पर उपलब्धि को यथाकिंचित् सम्पन्न करता ही है। क्या प्रेमी वही नहीं जिन्हें वियोग सयोग से भी प्रिय हो?

प्रश्न—इस प्रेम का परिणाम यदि विवाह है, तो आप कहते हैं कि प्रेम टूट जाता है। पर यदि पहले से दो व्यक्तियों में यथेष्ट परिचय हो, कल्पना न हो, तब क्या प्रेम स्थायी हो सकता है?

उत्तर—क्यो, कल्पना क्यों नहीं होगी? मै समझता हूँ, वह तो होगी ही। बिना कल्पना के रोमास होता ही नहीं। किन्तु ऐसे विवाहों में रोमास को स्थान कम है और विवेक को अधिक है, तो परिणाम भी उस अपेक्षा और अनुपात मे भिन्न होना चाहिए। सच तो यह है कि शुद्ध विवेक स्वयं ब्रह्मचारी है। वहाँ विवाह लगभग असगत ही है। शेष में थोड़ी-बहुत

कामना के आकर्षण को अवकाश है। उस हद तक प्रत्येक विवाह मे से किंचित् निराशा और विग्रह को जन्म मिलना अपरिहार्य है। इस तरह मुझे तो साफ दीखता है कि गृहस्थ कोई सुख की सेज नहीं, वरन् तप का और साधना का आश्रम है।

प्रश्न—रोमांस की स्थिति से क्या तात्पर्य है? इस स्थिति मे प्रेमी और प्रेमिका की अवस्था को आप किस प्रकार समझते है?

उत्तर—अवस्था-जैसी चीज वहाँ लगभग होती ही नहीं। वहाँ तो एक तीव्र तरंगति है। जैसे गति काल मे न रहकर मन में हो रहे। क्षण मे मन अकाश-पाताल दोनो छू लेता है। उठता है कि सूरज में हो और तभी गिरता है कि नरक के गर्त मे आ पडा हो। यह रोमास की अवस्था है कि जिसे कोई नियम, कोई तर्क बूझ नहीं सकता। यहाँ सब विचित्रता, सब विरोधाभास सभाव्य हैं। यहाँ जो भीतर हो रहा है, ठीक उससे उल्टा बाहर होता है। जी की हाँ मुँह से नहीं कहलाती है। इच्छा की तीव्रता लज्जा का सकोच बनती है। आगे बढने के लिए वहाँ पीछे हटा जाता है। देखने के लिए आँखे बचाई जाती हैं। उस जगह क्रिया अपने निज के अधिकार से नहीं होती। मन, बुद्धि और इन्द्रियो का सूत्र जैसे झनझना उठता है और उनकी एकता मानो क्षण मे सहस्र बार टूटकर सहस्र बार जुड़ती है। उस समय प्राणो की गति का वेग ऐसा और इतना होता है कि उसका वर्णन और विश्लेषण सहज नहीं है। थोड़े मे यह समझो कि मान, जिस पर हम जीते हैं, और प्रणय, जिसकी ओर हम जीते हैं, इन दोनों मे तब घोर महाभारत मचता है। जैसे दोनो अपने अमोघ दो-पन को एक करने पर तुले हों। दोनो प्राणपण से जूझ रहे हो, बिना जाने कि वे अपने को मिटाना चाहते है कि दूसरे को। इस प्रेम की युद्ध-लीला के वर्णन का किसी ने पार नहीं पाया है। कवि इसी मे अपने स्वप्न और दार्शनिक अपने तत्त्व खीचते और खोजते हैं। जीवन का सारा सत्य अपने चरम-मर्म मे उसी जगह

प्रस्फुटित होता है। मुझ-जैसे को उसमें जाकर सविशेष भला क्या बताने को बाकी रहने वाला है?

प्रश्न—रोमांस की स्थिति में रहा जाय, प्राप्ति की चेष्टा न की जाय, क्या यह सम्भव है?

उत्तर—जिसका वश हो, रहे। पर मुझे तो लगता है कि त्रिकाल-स्थायी रोमांस ईश्वर-प्रेम है। वह सदा मिला हुआ है, फिर भी सदा मिलने को शेष रहता है। दूसरे रोमांस अस्खलित रह सकते हैं, ऐसा मुझे नहीं जान पड़ता। हर आदर्शवाद एक रोमांस है, और देखा गया है कि भगवत् भक्ति से भिन्न कोई आदर्श-प्रेम आयु-पर्यन्त टिक नहीं पाया है। टूटा है और मन में किरकिराहट छोड़ गया है। फिर भी प्लैटोनिक प्रेम में मैं किसी तरह की बुराई नही देखता।

प्रश्न—यदि रोमांस की स्थिति में हठात् रहा जाय, प्राप्ति की भावना को बलात् रोका जाय, तो क्या उसका परिणाम दमन-रूप अनिष्टकारी होगा?

उत्तर—प्राप्ति का प्रयत्न अनिवार्य भाव से पीछे न चले, तो रोमांस न टिक सकता है, न हो सकता है। जिसको स्वप्न-रूप में कल्पना प्राप्त करती है, उसको यथार्थ रूप में कर्मेन्द्रियों सहित हमारा शरीर क्यों न प्राप्त करना चाहेगा! रोमांस स्वयं में सूक्ष्म भोग है, स्थूल भोग उसके पीछे खिचा क्यों न आए?

प्रश्न—रोमांस में सूक्ष्म भोग कैसे रहता है? उसमें तो देने और मिट जाने की भावना ही प्रधान रहती है न?

उत्तर—देने में क्या सुख नहीं मालूम होता? उस रसके स्वाद को भोग क्यों न कहें? क्या हमारे पास ब्रह्मानन्द शब्द नहीं है? आनन्द-मात्र भोग क्यों नही है? इस तरह 'भोग' शब्द पवित्र भी बन सकता है। क्या हम भोजन को भगवत् प्रसाद बनाकर भोग नहीं कहते हैं? और उसमें

कितना पावन भाव है ! विरक्त संन्यासी को हम युक्त भाव से 'खाना खाइए' नहीं कह-सकते, 'भोग पाइए' कहना होता है। अर्थात् रस और भोग को निषिद्ध नहीं मानना होगा। रोमांस शब्द समूचा रसमय है। उसमें रस है, इससे अधिक यह सच है कि वह रस है। सूक्ष्म है, इससे विकारमुक्त भी है। उसे अग्राह्य मानना अपने को ह्रस्व मानना है।

प्रश्न—फिर त्याग से प्रेरित रोमांस और स्थूल भोग में अन्तर ही क्या हुआ ?

उत्तर—अन्तर वही कहना होगा, जो सूक्ष्म और स्थूल में होता है।

प्रश्न—तो फिर रोमांस से भोग और भोग में विकार का बोध क्यों और कैसे होता है ?

उत्तर—यानी उत्सर्ग-परायण रोमांस में से वह भोग कैसे निकल आता है जो व्यभिचार का रूप लेता है? वह व्यभिचार जिसमें से आग्रह, उससे क्रोध और उससे हिंसा हो चलती है, जो नाना समस्याओं का उत्पन्न करता है ? यही न ? तो रोमांस उस अवस्था तक रहता है, जहाँ हमारा अहं एक निर्वैय-क्तिक भाव से स्फूर्त होता है। जब स्वयं अहं उसे प्रेरित कर चलता है, यानी जिस क्षण से उसमें कर्तृत्व-बोध आ चलता है, वहीं से विकार आ गया समझना चाहिए। कर्तृत्व-त्याग, फल-त्यागपूर्वक कर्म का यही आशय है। ऐसी अवस्था में भोग है, किन्तु विकार नहीं है, बन्धन नहीं है। विकार और बन्धन अहंभाव में है, जहाँ प्राप्ति 'हमें' होती है और कामना 'हम' में होती है। हमारी ओर से अहंकृति जब पड़ जाती है, तब ही विकृति आती है। कदाचित् समस्या भी यही है। रोमांस जब कि शक्ति देता है, तब भोग उसका क्षय करता है। फिर भी रोमांस हवाई रहकर चुप बैठता नहीं, वह जिन्सी (दैहिक) बनना चाहता है। जिन्स के आते ही उसमें मानो वेग की तीक्ष्णता आ जाती है। इसीसे तो मैं कहता हूँ कि व्यक्ति को प्रेम करना काफी नहीं है, ईश्वर-प्रेम भी उसके साथ जरूरी शर्त है। यदि

ईश्वर न हो, जिसके प्रति हमारा रोमास अमर भाव से चल सके, तो मानव-प्रेम अवश्य उलझन उपस्थित करेगा। भोगवाद इसी प्रकार के मानव-प्रेम का नाम है। अब अधिकाशतः ध्यान ईश्वर के साथ लगता है, काम मनुज से होता है। मै समझता हूँ, जीवन के इन दो तटो को छूते हुए ही बहना होता है। शायद प्रत्येक के जीवन मे ऐसे दो तट रहते हैं—एक आदर्श, दूसरा यथार्थ, एक प्रेमपात्र, दूसरा भोगपात्र। इन दानो के बिना जीवन लगभग असिद्ध हो जाता है। इन दो तटो के हटात् मिलने की कोशिश जीवन-नाश-सी मालूम होती है। जहॉ तट नही वह है समुद्र। वहॉ फिर बहाव भी नही रहता। किन्तु समुद्र की भी कल्पना का वहॉ अन्त है, जहॉ धरती शुरू है। इस तरह समुद्र मे भी तट माना जा सकता है। तट नही है—अर्थात् आकार नहीं है। उसे फिर रूप भी नही है। कल्पना भी वहॉ कैसे पहुँचे? मानो वह महाकाल है, जिसमे समय भी समाप्त है, परम सत्य है, जिसमे असत्य स्वय परिपूर्ण होता है। यह कुछ वाक्य अतर्क्य लगते होगे। पर कहने का आशय यह है कि दो तट रखकर उसके बीच हमारा जीवन चलता है। मै हठात् मानता हूँ कि प्रत्येक जीवन मे यह अनिवार्य है—अर्थात् एक के प्रति प्रेम, दूसरे के प्रति भोग।

प्रश्न—अहकृति और कर्तृत्व का मेल आपने कैसे मिला दिया?

उत्तर—मेल क्यो, मैंने दोनो का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है। अपने को मानना अहकृति है और कर्तृत्व का मतलब भी 'करने वाला' अपने को मानना है।

प्रश्न—इससे प्रेम व्यभिचार कैसे बनता है? और क्षोभ कैसे उत्पन्न करता है?

उत्तर—इसका उत्तर तो प्रत्यक्ष होना चाहिए। कब्जा करने की भावना नितात प्रेम मे नही होती, अहकृत प्रेम मे होती है। व्यक्ति अपने को प्रेम

के हाथ में नहीं देता, अपने को प्रेम करने वाला मानता है। यही से उलझन शुरू होती है। कोई कर्म केवल मुझ से तो होता नहीं। उपादान, निमित्त और सहयोगी कारण और भी अनेक होते हैं। मैं अपने को कर्त्ता मानकर उन उपादानो को यथावश्यक महत्त्व देने से च्युत हो सकता हूँ। इस प्रकार कर्म में असावधानता उत्पन्न होती है। कर्म-कौशल को जो योग कहा है, सो इसी अर्थ मे। वह कौशल अनासक्ति से ही सध सकता है। कारण, अनासक्त होकर ही हम कर्म के तमाम अंगो के प्रति सावधानता बरत सकते हैं। अहभाव मे यह सजगता बन नहीं पाती। इससे सफलता मे बाधा पडती है, जो क्षोभ का कारण होती है। अहंकार हमे दूसरों से, दूसरे साधनो से, टकरा देता है। ऐसे विफलता और अकृतार्थता का सामना करना होता है, जो क्लेश और ताप उपजाती हैं।

प्रश्न—आपने ऊपर दो तट की बात कही और कहा कि एक के प्रति प्रेम और दूसरे के प्रति भोग का सम्बन्ध रहता है। अर्थात् स्थूल भोग जिस व्यक्ति से होता है, उससे प्रेम टूट जाता है। पर हमारे आदर्श का साम्य जिस व्यक्ति मे मिलता है उसी से तो हम प्रेम करते है। उस साम्य को लेकर विवाहोपरान्त प्रेम क्यों नहीं सम्भव होता ?

उत्तर—व्यक्ति मे ऐसा कुछ नही होता मूल मे जो सब जगह नहीं है। एक व्यक्ति मे ही सुन्दरता होती अथवा गुण होते, तो अमुक एक के सिवा दूसरे के लिए प्रेम पाना या प्रेम करना असम्भव हो जाता। आँखें रूप की सृष्टि करती हैं। इसीलिए है कि आँखें ही अपने लिए अलग-अलग प्रेमपात्र ढूँढ लेती हैं। आदर्श के साथ तत्सम होकर जो उपलब्ध्य हमारे लिए तात्कालिक दृष्टि से लक्ष्य हो जाता है, लगभग प्राप्ति (स्थूल) के साथ-ही-साथ आदर्श-भाव उसमे से तिरोहित हो चलता है। तब वहाँ गुण ही अवगुण बने दीखते हैं। गुण भी तो असल मे हमारे ही आरोपण हैं। तत्त्व

वास्तव मे निर्गुण है। इस तरह गुण के अवगुण बन दीखने मे कोई अन-होनी बात न मान लेना, बल्कि सदा और सब कही ऐसा होता है। गुण वे तब हैं जब कि हमें खोलते हैं। जब वे ही हमको लपेटते और बाँधते लगते हैं, तो अवगुण-रूप प्रतीत होते हैं। रूप को पूजा मिलती है, पर उसी अनुरक्त, द्वारा विरक्ति होने पर, उस रूप को ही गालियाँ मिलती देखी जाती हैं। पहले जिसमे दिव्यता दीखती थी, वही दुष्टता का प्रमाण जान पड़ता है। इस तरह वस्तु और व्यक्ति मे अपने मे वह कुछ है जो दूसरे को अपने में केन्द्रित रखे, ऐसा मै नही पाता। श्रद्धा मे ही मैं तो वह शक्ति देखता हूँ। श्रद्धा कदर्य मे भी ऐश्वर्य की सृष्टि कर सकती है।

प्रश्न—तब तो आपकी राय मे व्यक्ति को आँख मींचकर किसी से भी विवाह कर लेना चाहिए, क्योंकि परिणाम तो अप्रेम ही होगा।

उत्तर—आँख मीचकर भी कर सकते है। माता-पिता की आँखे अगर खुली हैं तो मेरी तो सचमुच सलाह है कि भावी वर-वधू अपनी आँखे बन्द रख सक्ते है। उनका भला मै इसी मे देखता हूँ।

प्रश्न—पर माता-पिता की आँखे ता अधिकतर नहीं खुली रहतीं। वे तो रुपये व प्रतिष्ठा के लालच से ज्यादा प्रेरित होते हैं।

उत्तर—इसी से तो कठिनाई है। विवाह रुपए से तो नही होता। इससे वैसे लालच वाले विवाह किसी और सुख नही उपजाते। क्यो न वर-कन्या की आँखें इस ओर भरपूर खुल जायँ। उसमे मैं कोई बाधा नही देखता। पैसा इसलिए सकट लाता है कि जहाँ उसका अभाव है वहाँ हम अवज्ञा देते हैं। परिणाम मे मानव-सम्बन्ध विषम और विपर्यासक्त होते हैं। यह न समझना कि कोई विष सीमित रह सकता है। वह अपना असर चारो ओर भेजता है और एक की ग्रन्थि समाज को जकड़ती है।

प्रश्न—जब आप यह मानते है कि विवाह हमेशा असफल ही

होता है, तो माता-पिता की भी आँखें खुली रहने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—यह मैंने कब कहा कि विवाह असफल होने के लिए है। कहा तो यह कि धर्मपूर्वक ही विवाह को सफल बनाया जा सकता है। भोगमूलक होकर उसकी सफलता असम्भव है। विवाह की सफलता क्या? वह सफलता यह कि प्रेम उससे उत्तरोत्तर सघन और व्यापक हो। वृत्ति उसमे यदि भोगोन्मुख रखी जायगी, तो निश्चय ही वह सफलता मे सबसे बड़ी बाधा बन जाने वाली है। तब वह हमें सीमित ही नहीं, क्षुद्र बनाने लग जायगी। यदि विवाह एक संस्कार है, तो विवेक की उसमे आवश्यकता है ही। संस्कार का अर्थ है उत्कर्ष-साधक अनुष्ठान। विवाह-सम्बन्ध की दृष्टि मे इस प्रकार विवेक का उपयोग करने वाले माता-पिता ही हो सकते हैं।

प्रश्न—तो माता-पिता को वर अथवा कन्या चुनते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए?

उत्तर—परस्पर के सामंजस्य, कल्याण और परिपूर्णता की दृष्टि से वे विचार कर सकेंगे, ऐसी आशा के लिए स्थान है। इस निर्णय मे दोनो के गुण, कर्म, स्वभाव तथा सामाजिक और परिपार्श्विक स्थिति—इन सबका ध्यान रखना सहज ही उनके लिए आवश्यक होगा।

प्रश्न—यह विचार यदि वर और कन्या स्वयं ही करें तो क्या ज्यादा अच्छा न होगा? प्राचीन काल में भी स्वयंवर की प्रथा थी।

उत्तर—वर और कन्या के सम्बन्ध मे सम्भावना है कि वे तटस्थ होकर न सोच सकें। स्वयंवर की प्रथा तब सामाजिक रही होगी—अर्थात् उसमे भी कन्या के लिए मनमानेपन को इतना अवकाश न होगा। लेकिन यह तो ठीक है कि वरण स्वेच्छा ही से है। बलात् वह नही हो सकता और न आरोपित ही हो सकता है।

विवाह, वियोग और विच्छेद

प्रश्न—व्यक्ति के हित की दृष्टि से रोमास का परिणाम क्या विवाह नही होना चाहिए ?

उत्तर—नही।

प्रश्न—यदि नही होगा तो प्रेमी और प्रेमिका के जीवन वियोग-जनित दु:ख से क्या टूट नहीं जायँगे ?

उत्तर—हाँ, टूट सकते है और बन भी सकते है। वियोग से टूटे बहुत हैं। लेकिन वियोग के बिना क्या कोई बना भी है ? इससे वह खतरा ऐसा है जिसे बचाया नहीं जा सकता और जिसमे बचा नही जा सकता।

प्रश्न—वियोग से जीवन बन कैसे सकता है, मैं नहीं समझती। देखा यही जाता है कि वियुक्त प्रेमी आत्महत्या तक कर लेते है।

उत्तर—लेकिन जो आत्मा की हत्या नही करते, आत्म को सिद्ध करते हैं, उनको हम क्या तनिक भी सयुक्त देखते हैं ? वे सर्वथा वियुक्त ही देखे जाते हैं। उनका प्रयत्न युक्त होने का है तो कुछ निराकार से, जिससे जीते-जी सयोग होना ही नहीं है। इससे वियोग ही उनका धन है। क्या भक्तो के विषयो मे नही सुना कि वे विरह मे ही भक्ति सम्भव पाते हैं और इसलिए भक्ति के रस के आगे स्वय उपलब्धि को तुच्छ गिनते हैं ? क्या वे ही नहीं है जिन्होंने वियोग को जाना, पूरे अर्थ मे उसे अपनाया और इस तरह उसे सार्थक किया ? हत्या वे करते हैं जिन्होने वियोग जाना अथवा पाया नहीं है, दूरसे देखकर ही उसका भय किया है। वे बेचारे नहीं जानते कि वह

बचने की नहीं, रमने की वस्तु है। प्रेम अपने से दूरी बनाता है। जो इस दूरी मे अपने को सिद्ध न मानकर खडित अनुभव करता है, वह रोमास का क-ख भी नहीं जानता।

प्रश्न—वियोग सार्थक कैसे किया जाता है? मैंने तो किसी को सार्थक करते देखा नहीं। शरत् का देवदास वियोग-जनित दु:ख से शराबी ही तो हो गया।

उत्तर—शराबी देखती हो, पर उसी देवदास को अमित संयमी भी नहीं देख सकती हो क्या? उसके समागम से वार-वेश्या भी सामान्य गृहिणी बनी, यह उसके संयम का नहीं तो किस का परिणाम माना जायगा? और वह देवदास पार्वती की पवित्रता पर अपनी ओर से क्या कालिख की एक हल्की रेख भी ला सकता था? नही, अपने भीतर ज्वलन्त जाग्रत प्रेम रखकर वह ऐसा कभी नही कर सकता था। तब सवाल हो सकता है कि फिर उसके इतनी बेहयाई के साथ अधम दुर्व्यसनी होने को क्या कहा जायगा? क्या उसे मान्य ठहराना होगा? तो मैं कहूँगा कि यहाँ दृष्टि के पृथक्करण की आवश्यकता है। समझो कि देवदास का तन वह घोडा था जो उच्छृंखल हो गया। वह अपने सवार को गड्ढे में ही पटकने को उतारू है। तब उसकी सवारी छोड देना और स्वयं गड्ढे मे गिरने से इन्कार कर देना क्या महानता नहीं है? ऐसी अवस्था मे पागल हुआ घोडा गड्ढे मे गिरे तो गिरे, पर सवार तो सुरक्षित रहेगा। देवदास में इसी उदाहरण को घटित करके देख सकेंगे, तो उसके तन के व्यवहार से उसके मन को लाञ्छित करने की स्पर्द्धा हममें नहीं रह जायगी। और मन का वह अडिग ब्रह्मचर्य, जो तन के विद्रूप-विद्रोह पर भी विशुद्ध बना रहा सो क्या स्वीकृत वियोग की शक्ति के बलपर ही नहीं? मैं तो कहता हूँ कि वियोग को देवदास और भी पूरी तरह स्वीकार कर सकता, तो उसके जैसा योगी-पुरुष उपन्यास-साहित्य में दूसरा पाना कदाचित् ही सम्भव रह जाता। उस कोटि तक नहीं पहुँचा, इसलिए क्या

हम आसानी से अपनी आँखो को धोखा दे लेगे ? और वियोग को अपना सौभाग्य बनाने की साधाना-सम्भावना को असम्भव कह रहेंगे ? नहीं, वियोग अनिवार्य है । इससे आरम्भ से ही हमे उसे स्वीकार्य बना लेना चाहिए । अहकार के नशे को मारने वाली औषध इस स्वेच्छित वियोग से बढकर दूसरी नही मिलेगी ।

प्रश्न—वियोग अहंकार का कैसे नाश करता है ?

उत्तर—वियोग है दुःख । अहकार को होती है सुख की चाह । वियोग में विसर्जन है, अहकार में ग्रहण का आग्रह है । ऐसे साफ ही अहकार विष और विरह उसे काटने की औषध है ।

प्रश्न—पावती के विरह से देवदास के अहंकार का कैसे दमन हुआ, क्या आप इसे समझाकर बता सकेंगे ?

उत्तर—समझा के उसे क्या बताना है ? उसके आख्यान मे यहाँ से वहाँ तक क्या वह व्याख्या प्राप्त ही नहीं दीखता ? कुछ अपने लिए लेने का आग्रह देवदास को न रहा । दूसरे को सब-कुछ लुटाते उसे तनिक भी गर्व न हुआ । सोचता हूँ, अगर देवदास अच्छे बड़े जमींदार का पुत्र न हुआ होता, तो उसके जैसे चित्त के व्यक्ति के लिए अनिवार्य ही था कि वह योगिराज हो जाता । मुझे तो लगता है कि उसका पैसा ही उसके लिए शराब बना, वही उसे ले डूबा । लेकिन यह तो मनचाहा गोरख-धन्धा है । उससे ज्यादा-से-ज्यादा भी खेलकर क्या पायँगे ? यह सच है कि देवदास ने जो खोया वह वियोग को अस्वीकार करके नही, वरन् उससे किंचित् विद्रोह करते रहने के कारण । जिस अश मे उसने उस वियोग को स्वीकार किया, और अधिक अश मे किया, उस अंश तक वियोग उमे प्रसाद ही बना और उसमे देवदास ऊँचा भी उठा ।

प्रश्न—जब मन बराबर प्राप्ति के लिए आकाक्षा करता रहता है, तो उससे क्या दमन सम्भव नहीं है ?

उत्तर—मन जिस प्राप्ति की इच्छा कर सकता है, वह शरीर की तो

नहीं है। कारण, शरीर-स्पर्श मन कभी पा नहीं सकता। इसलिए मन सदा मन चाहता है। यह तो तन है, जो तन की माँग करता है। जहाँ तन आया, वहाँ व्यवस्था का और पदार्थ का, और पदार्थ-व्यवस्था का, प्रश्न उठ बैठे। उस क्षेत्र के लिए इससे मर्यादाएँ बनी और यम-नियम स्थिर हुए। यह समूची नियम-व्यवस्था मन के लिए तो बाधक होती नहीं और होनी भी नहीं चाहिए। मन से नहीं, मन के प्रेम मे ही प्रिय की उपलब्धि है। इसलिए तन की उपलब्धि में मन के प्रेम के लिए उल्टे संकट ही रहता है। यह झूठ है कि मन अपनी ओर से भी संकट चाहता है। इसलिए मन की अगर चल जाय, तो वियोग मे अतिरिक्त वह और ले ही नहीं। लेकिन तन जिसको कहते हैं, क्या वह हम से पर वस्तु है? पर की तरह से उससे व्यवहार चल नहीं सकता। इस तरह तन को न काटना है, न दबाना है; बल्कि उसको समुचित उपयोग मे लाना है। उसकी माँग उसको देनी है। जब वह है, तो उसे हठात् असत् नहीं ठहराया जा सकता, बुरा कहकर उसे टाला नहीं जा सकता। बल्कि उसका आदर और सम्मान करना होगा। अपमान करेंगे, तो वह हम से इसका बदला लिए बिना न रहेगा। पर जब तन और मन मे ठन बनी हो, एक-दूसरे से अलग दिशा मे आत्म को खींचता हो, तब उपाय यही है कि उनको आपस मे लड़ाई से बचाएँ। दोनो को एक-दूसरे के दबाव से बचाएँ और स्वाधीन बनें। अगर इस तरह देखेंगे तो समाज-व्यवस्था, जो तन के व्यवहार से बनती और टूटती है, अपने स्वतन्त्र नियम रख सकती है। पर आवश्यक नहीं है कि मन की वृत्तियो पर वे नियम आरोप ही बनें, बल्कि सही तौर पर अभ्यासी और अनुशासित जीवन उन समाज-मर्यादाओ के बीच मे से खिलने और खुलने की अपने लिए उपयुक्तता और सुविधा ही पा लेता है।

प्रश्न—वियोग स्वीकार करने पर तन की माँग, जो स्वभावतः मन के साथ चलती है, कैसे पूरी की जाय?

उत्तर—मन की माँग मन की है, इसलिए तन को वह न मिले जो मन माँगता है, तो उसको शिकायत का क्या अवसर है ? इस तरह से तन को वियोग उसका सहना होगा, जिसकी उपलब्धि मन में है, और मन को वियोग उसका जो तन को प्राप्त है। इस विध दोनों ओर वियोग रहकर जो उपलब्धियां उपलब्धि रहकर जो वियोग है, वही सम्यक् है। वह जीवन को संघर्ष नहीं देता, उसके ह्रास का कारण नहीं होता।

प्रश्न—साधारणत. ऐसा होता है कि मन और तन की माँग कोई अलग नहीं दिखाई देती। मन के साथ-ही-साथ तन की भी माँग आ जाती है। तो फिर आपने इन दोनो को अलग-अलग विभागो मे क्यों रख दिया ?

उत्तर—जब दोनो आत्म के अधीन हों या अनुकूल हों, तब तो दोनो मे पृथकता देखने और रखने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा न होने पर तन और मन हम चाहें तो भी एक तल पर नहीं रह सकते और मिलकर नहीं चल सकते। इस असमर्थता को स्वीकार करके चलना ही इष्ट है।

प्रश्न—जब तन का अर्थात् प्राप्ति का प्रश्न रहता ही है, तो वियोग से आत्मोपलब्धि कैसे सम्भव हो सकती है ? अहकार का दमन तो देने की भावना मे होता है, न कि प्राप्ति की भावना मे ?

उत्तर—उपलब्धि मे वियोग तो अन्तर्गभित है। या तो हम छिलके को लें, या रस को। रस के लिए छिलके से छूटना होगा। छिलका रखना चाहते है, तो रस से हम हाथ धो बैठे। वियोग के सर्वस्व होने की बात जो कही, उसका मतलब यही है कि हम परमात्म से कम पर नहीं रुकना चाहते। इससे जो है, उस पर 'न इति' का स्वर हमारे भीतर से ध्वनित होता ही है। जिसने पा लिया, वह रुक गया। जिते पाते जाना है, उठते और बढते जाना है, समष्टि-प्राप्ति से इधर कहीं रुकना ही नहीं है, उसके पास वियोग के अतिरिक्त क्या दीखेगा ? लेकिन इसे रसहीन अवस्था मत

मान लेना। इसका रस वही जानता है।

प्रश्न—क्या आवश्यक तौर से प्रत्येक व्यक्ति मन को लेकर ही प्रेम प्रारम्भ करता है? मुझे ऐसा लगता है कि अधिकतर व्यक्ति शरीर की आकांक्षा को लेकर बढ़ते है।

उत्तर—नहीं, प्रेम का जन्म सदा मन में होता है। मन जब साथ नहीं देता, तब तन की लत बन गया भोग जुगुप्सा पैदा करता है।

प्रश्न—आपने कहा कि वियोग से व्यक्ति टूटता भी है और बनता भी है। बनने की बात तो हो ही गई। अब यह समझाइए कि टूटने की सम्भावना किन बातों को लेकर होती है?

उत्तर—होता यह है कि जिसे मन से चाहते हैं, उसे मुट्ठी मे भी ले भीचना चाहने लगते हैं। इसी लालसा मे व्यक्ति टूटता है। कारण, मुट्ठी हमारी है और उसे बन्द करते ही हम देखते हैं कि वह खाली बन्द हुई है, उसमे कुछ समा नहीं सका है। यही निराशा व्यक्ति की खीझ और खिझ-लाहट का कारण होती है। आखिर इसमे व्यक्ति टूटकर बिखर जाता है।

प्रश्न—इसका आशय यह हुआ कि जो व्यक्ति वियोग से बनता है, उसको मुट्ठी मे लेने की चाह नहीं रहती? यदि उसे भी रहती है, तो वह बनता कैसे है?

उत्तर—हॉ, यही मतलब कि वह वियोग को स्वीकार करता है, इस-लिए मुट्ठी मे कुछ बॉधना नहीं चाहता। यही बात उसके उठने और बनने मे सहायक होती है।

प्रश्न—इस प्रकार तो सौ मे एक व्यक्ति भी वियोग से बन न पाता होगा, क्योंकि इस रूप मे वियोग को स्वीकार करने की सामर्थ्य किसी मे नहीं होती। सब मुट्ठी में ही तो बॉधना चाहते हैं न? इसके लिए क्या समाधान होगा?

उत्तर—सख्यानुपात क्यों सोचो? ऐसा तो शायद सौ मे एक भी न

होगा जो प्रेम को शरीर पर ले ही नहीं, मन तक ही रोक जाय। हो भी, तो मैं उसे स्वस्थ न कहूँगा। प्रेम खण्ड में अथवा अमुक स्तर में रहकर तुष्ट क्यों हो जाना चाहिए? अखण्ड में फैल और घुल रहने से पहले वह चैन क्यों पाए इस तरह मैं मानता हूँ कि जब सौ मे एक भी ऐसा नहीं होता, तब सौ में लगभग सौ ही ऐसे होते हैं जो थोड़े-बहुत अंश में वियोग को सह और स्वीकार करके संयोग सहते और भोगते हैं। पशु कोई हो नहीं सकता। इस तरह संयम मनुष्य मे अनिवार्य ही है। संयम जिसे कहते हैं, प्रेम की गहनता और अभिलाषा में वह सहज साध्य होता है। सुनने मे लगता है जैसे उसकी सिद्धि इतनी दुर्गम हो कि उसे अप्राकृतिक ही कहें। मेरी धारणा है कि शरीर लड़कर तो वैसी सिद्धि असम्भव है। किन्तु शरीर के लिए ऐसे मन का साथ साधना तनिक भी कठिन नहीं है, जो फिर आत्म से योग साधता है। तब तन-मन की लडाई नहीं रहती और वे उत्तरोत्तर उच्च निष्ठा में समर्पित और सम्पूर्त होते हैं।

प्रश्न—थोडे-बहुत अंश मे वियोग को सह और स्वीकार कर के संयोग सहने और भोगने से आपका क्या आशय है?

उत्तर—मान लो, एक युवक अमुक युवती के प्रति आकृष्ट है। अब सम्भव तो यह भी है कि वह आकर्षण ही उसे उस किशोरी से दूर रखे और युवक ध्यान में उसे लेकर सन्तुष्ट रहे। एवं समय आने पर माता-पिता जहाँ विवाह करें, वहीं उसे स्वीकार कर ले। नहीं तो मान लो कि वे परस्पर प्रेम भी प्रकट करते हैं और विवाह के भी इच्छुक हैं। अब हो सकता है कि कन्या के या युवक के माता-पिता इस सम्बन्ध में सहमत न हों। ऐसी स्थिति मे अनेक सम्भावनाएँ हैं। मान लीजिए कि दोनों अपनी-अपनी जगह माता-पिता के हाथ मे अपने को इतना तो नहीं छोडते कि जहाँ चाहें अपना विवाह हो जाने दें। फिर भी माता-पिता का मान रखते है और कुछ काल अविवाहित बने रहते हैं, या उनमे एक माँ-बाप की इच्छा पर अपने को छोड देता है

और दूसरा चिरजीवन एकाकी रहने का प्रयत्न करता है। इत्यादि-इत्यादि अनेक सम्भावनाएँ हो सकती हैं। सिवा उस एक सम्भावना के, जो स्वयं मे अकल्पनीय है, (यानी जहाँ इच्छामात्र पर दोनो या कोई पशुसम आचरण करते हैं हर जगह उनको वियोग सहना होता है। जो उस वियोग को जितने हार्दिक भाव से स्वीकार करता है, उतना ही इष्ट है। यह तो पहले ही मैंने तुम्हें कहा कि वियोग उपलब्धि-शून्य नहीं होता।

प्रश्न—हार्दिक भाव से स्वीकार करने की समझ तो बड़ी मुश्किल है।

उत्तर—समझ की ओर से सचमुच वियोग का हार्दिक स्वीकार नहीं बनाया जा सकता है। ऐसे वह दुस्साध्य ही क्या कहूँ, असम्भव है। किन्तु बेसमझी मे यह घटना सिद्ध भी हो जाती है। दुष्ट देखते-देखते कभी संयमी बन गए हो, सो उसी शक्ति से। इसको भगवत्कृपा ही कहे, क्योकि और कोई नाम उसको ठीक खोल नहीं सकता। समझ के कारण जो जटिलता और कठिनता हो बनती है, उसी को तो जीतने के लिए पुरुषार्थ चाहिए। सब सहज हो जाय, तो जीवन मे से प्रयास का आनन्द ही निकल जाय।

प्रश्न—हार्दिक स्वीकृति ऐसी अवस्था मे कैसे सम्भव होगी?

उत्तर—हार्दिक स्वीकृति कभी भी असम्भव नहीं है। कारण, हृदय को बीच मे सब बाधाओं के रहते भी हृदय प्राप्त हो जाता है। फिर दीखने वाला वियोग उसके लिए महत्त्वपूर्ण नही रहता। यह सच है कि स्वीकृति असल मे स्वयं उपलब्धि है। नकार का स्वीकार ही क्या होगा? इसलिए जहाँ वियोग को स्वीकार करने की बात है, वहाँ यह तो मान ही लेना चाहिए कि उस वियोग के योग भीतर है। अभ्यन्तर मे यदि स्वीकृति हो, दूसरे शब्दो मे ध्यान, मनन, चिन्तन, स्मरण द्वारा प्रिय की उपस्थिति हो, तब के लिए बाहरी वियोग का भार उठाना बिल्कुल कठिन नहीं होता, बल्कि उल्टे प्रिय हो जाता है। इस तरह कह सकते है कि प्रेम स्वयं अपनी व्यथा

सहना सिखाता है। विछोह-विरह प्रेमी को आप ही रसप्रद हो आते हैं। इसमे विशेष सीखने या साधने की आवश्यकता नहीं होती।

प्रश्न—क्या ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि वियुक्त होकर मनुष्य अपने प्रिय से ध्यान खींच ले और अन्य किसी की ओर आकृष्ट हो जाय ?

उत्तर—उसकी आवश्यकता मुझे तो नहीं दीखती। आधार स्थानान्तरित होने की लाचारी तब होनी चाहिए, जब प्रेमपात्र को अति निकट लेकर हम ही अप्रेम का पात्र बना लेते है। अन्यथा उसके विचलित होने की क्या आवश्यकता है ?

प्रश्न—वियोग को आप इतनी महत्ता देते है, पर कुछ दम्पति परस्पर सन्तुष्ट भी तो दीखते है ?

उत्तर—दीखते हैं, पर इतने ही से हमे आगे बढकर उनके सम्बन्ध मे दावे के साथ कुछ नहीं कहना चाहिए। केवल परस्पर पति-पत्नी होकर कोई दम्पती सन्तुष्ट नही हो सकते। सन्तोष का भोग से विरोध है। जिससे उसका सहयोग है, वह फिर दोनो मे अस्वास्थ्यकर निकटता नहीं, बल्कि स्वास्थ्यप्रद पृथकता पैदा कर देता है। राम और सीता का परस्पर सुख यह ही शर्त नहीं रखता था कि दोनो साथ रहे। एक का दूसरे में अगाध विश्वास ही वह तत्त्व था जो बीच की सब बाधाओं को शून्य किये रहा, राम-सीता आदर्श दम्पती हो सके, इसमे सीता का निर्वासन और अग्नि-परीक्षा का व्यवधान भी साधक रूप हुआ। वह व्यवधान हमको दारुण दीखे, पर क्या वह उनके हृदयो को भी परस्पर दूर और शकालु बना सका ? नहीं, रचमात्र भी नहीं। यदि पति-पत्नी होकर कोई सन्तुष्ट हो सकता है तो वह ऐसा ही दम्पति है जिसके बीच धर्म के सिवा दूसरा और कुछ भी नियामक तत्त्व नहीं है। ऐसे दम्पति सम्प्रति अनेक हैं, क्या तुम मुझे यह मानने को कहती हो ? मेरा मन सहसा यह नही मानता।

प्रश्न—अधिकतर दम्पति परस्पर एक-दूसरे के प्रति वफादार नहीं होते—विशेषकर पति बहुधा पत्नी के साथ विश्वासघात करता देखा जाता है। ऐसी स्थिति मे पति को पत्नी की ओर से स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए अथवा पत्नी को उस पर कोई रोक रखनी चाहिए ?

उत्तर—प्रेम विश्वास के अतिरिक्त दूसरे किसी बन्धन के पक्ष मे नहीं है। विश्वास स्वतन्त्रता को कम नहीं करता। धीरे-धीरे स्वतन्त्रता मे सहृदयता उपजाने का काम करता है। स्वतन्त्रता उतनी ही सहृदय हो जाय, तो उससे बड़ी शक्ति दूसरी नहीं। आत्मानुशासन उसका अस्त्र है। इसलिए यह शक्ति समाज-मर्यादा को भग नहीं, दृढ ही करती है। या कहो, वह मर्यादा की सृष्टि करती है।

प्रश्न—यदि पुरुष किसी दूसरी स्त्री को चाहने लगे, तो उसकी पत्नी क्या उसे स्वतन्त्रता दे दे ?

उत्तर—क्या वह स्वतन्त्रता छीन भी सकती है ?

प्रश्न—तो फिर प्रेम और विश्वास के अभाव मे प्रेम किस आधार पर टिकेगा ?

उत्तर—शायद नहीं टिकेगा।

प्रश्न—परस्पर प्रेम और विश्वास पैदा करने का क्या उपाय हो सकता है ?

उत्तर—मुझे लगता है, उपाय है—अपने साथी को पूरी स्वतन्त्रता देना और रहने देना। इसमे से अधिकतर आशा है, प्रेम टूटेगा नहीं, विश्वास बढ़ेगा।

प्रश्न—पर पश्चिम मे जो स्वतन्त्रता का परिणाम हो रहा है, क्या उसे आप अच्छा कहेगे ?

उत्तर - स्वतन्त्रता वहाँ देते नहीं, लेते हैं—अर्थात् अपने लिए

चाहते हैं। इसमें से परिणाम अच्छा कैसे आ सकता है ?

प्रश्न—जब स्वतन्त्रता लेते हैं, तभी देते भी हैं। दोनों स्वतन्त्र रहते हैं। इसमें क्या हर्ज है ?

उत्तर—नहीं, स्वतन्त्रता देते तब हैं जब अपने में उसकी कमी अनुभव नहीं करते। ली जाने वाली स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता का अपहरण है। एक-दूसरे से छीनकर जो स्वतन्त्रता हम अपने लिए अपनाते हैं, वह चहुँ ओर परतन्त्रता का भाव फैलाती है। आज की हालत कुछ ऐसी ही है। क्या डिक्टेटरशिप स्वतन्त्रता की पुकार में से ही हमने अपने बीच नहीं उगाई ? स्वतन्त्रता की इच्छा करने वाला पराधीन होता है, स्वाधीन सदा मर्यादाशील होता है और भोग से अधिक सेवा में उसकी प्रवृत्ति होती है। अपने लिए स्वतन्त्रता चाहने वाला शेष से निरपेक्ष होता है। इस तरह से अपने को निबाहने की जिम्मेदारी एक तरह वह दूसरों पर छोड देता है। अपने अधिकारों के प्रति दूसरों के कर्तव्य खींचता है और सच पूछो तो, अपने को दूसरों के प्रति कर्तव्य ही से वह स्वतन्त्र करता है। यह स्वतन्त्रता समाज-सयम को शिथिल करती और सहज मर्यादाओं का नाश करती है। फलत कृत्रिम और कानूनी मर्यादाएँ पैदा करके समाज को एकत्र रखना पडता है। स्पष्ट है कि यह जीवन का विकास नहीं, त्रास है, यह उसका ह्रास है।

प्रश्न—एक-दूसरे को स्वतन्त्रता दे देने में परस्पर विश्वास के विकास के कारण क्या विवाह-विच्छेद-जैसा प्रश्न उठना बन्द हो जायगा ?

उत्तर—उसकी उत्कटता मन्द तो अवश्य हो जानी चाहिए। विवाह जिस क्षण से दबाव होने लग जायगा, उसी क्षण से विच्छेद के समर्थन का भी आरम्भ मान लेना चाहिए। मैं विश्वास और प्रेम की इतनी सघन अवस्था की कल्पना कर सकता हूँ कि पति अथवा पत्नी एक-दूसरे की घोर-से घोर व्याधि, असमर्थता या अभाव को भी कृतार्थता के साथ स्वीकार करें।

ऐसी पत्नी को मैं जानता हूँ जिसने आदर्श-गृहिणी होकर जीवन बिताया और बिता रही है, यद्यपि पति नपुंसक है। यह कि वह नपुंसक है, मानो पत्नी ने कभी जाना ही नहीं, जताने की तो बात ही क्या? मुझे तो जान पड़ता है कि प्रेम और विश्वास के सत्‌भाव पर विवाह-संस्था की बाहरी रोक-थाम अनावश्यक होती जायगी। अनावश्यकता में मर्यादा-भंग हम नहीं देख सकते। विच्छेद अनिवार्य हो आए, लेकिन विच्छेद की मॉग भोग की मॉग है। उस आन्दोलन में तो मैं कोई शुभ नहीं देखता हूँ। विच्छेद हो सकता है, विच्छेद का आन्दोलन नहीं होना चाहिए।

प्रश्न—दम्पति मे से यदि एक विच्छेद् चाहता है, दूसरा नहीं, तो ऐसी अवस्था मे फैसला कैसे किया जाय?

उत्तर—नहीं चाहने वाला दूसरे पर अपने प्रेम को लादने मे क्या सफल हो सकता है, मान लो, कानून नहीं है, तो क्या होगा? एक ओर अनिच्छा है, तो क्या प्रेम सार्थक होने का हठ करके क्रूरता ही न बन जायगा? इसलिए कानून का सवाल नहीं है। सवाल सदा दूसरे को निबाहने का है। अप्रेम को प्रेम से जीतना है, इसका मतलब यह है कि अप्रेम यदि कहीं आरम्भ होता है, तो हम उसका भी आदर-सत्कार करेंगे। आग्रह है वहॉ प्रेम कैसा? इसलिए निराग्रही प्रेम ही अन्त मे जीत सकता है। निराग्रही प्रेम ही सत्याग्रही होता है। कारण, जिसका प्रेम ईश्वर मे है, उसका आग्रह भी सत्य मे है। आत्यन्तिक भाव से आग्रहहीन प्रेम ही ईश्वर-प्रेम है। इसी का दूसरे शब्दो मे अर्थ है—ईश्वर-रूप सत्य मे अटूट आग्रह।

प्रश्न—यदि पति-पत्नी दोनों ही विच्छेद् चाहे, तो क्या आप इस 'विच्छेद्' शब्द मे दोष समझेंगे?

उत्तर—'विच्छेद' शब्द मे आता है कि वह अलग होना फिर जुड़ने के लिए नहीं है। मैं इसलिए उस वस्तु का बहुत प्रेमी नहीं हूँ। विच्छेद हो सकता है, अगर उसमे गर्भित हो कि आगे मिलने का प्रयत्न जारी रहने

वाला है। अथवा वह विच्छेद ठीक है, जिसमे सद्भाव टूटता ही नहीं है, केवल व्यवस्था बदली जाती है। ऐसे विवेकपूर्ण विच्छेद में कानून कहीं आता ही नहीं। यह बे-कानून होकर भी ठीक है। इसलिए कानून वाला विच्छेद जरूरी चाहे हो आए, मुझे प्रिय नहीं जान पडता।

प्रश्न—पर एक जगह रहकर परस्पर क्लेष और कलह का विस्तार करते रहने से तो यह कहीं अच्छा है कि वे अलग हो जायँ।

उत्तर—कहता तो हूँ कि बीच-बीच में अलग होते रहना मेल में साधक होगा। लेकिन दो टूक अलहदगी तो मेल की सम्भावनाओं को आगे रखती ही नहीं है। ऐसी अलहदगी ससार मे प्रकृत भाव से टिक नहीं सकती। वह होती है, तो सब ओर बन्धन फैलाती है।

प्रश्न—पर यह अत्यावश्यक तो हो जाता है कभी-कभी। पति कहीं और का हो जाय, घर की ओर मुँह ही न मोडे, तो स्त्री बेचारी क्या करे?

उत्तर—उसे प्रेम से और धैर्य से सहे।

विच्छेद और विवाह

प्रश्न—आप विच्छेद के पक्ष मे नहीं। किन्तु यदि पति ऐसा गया हो कि उसके लौटने की आशा ही न हो तो एक आदमी के लिए जीवन गँवाने से क्या यह अच्छा न हो कि उससे पूर्ण विच्छेद करके स्त्री अपने लिए कोई और आश्रम चुन ले।

उत्तर—जीवन को गवा देना और उसको सार्थक करना इन शब्द-प्रयोगों के अर्थ को समझना होगा। अपने को अकृतार्थ अनुभव करते हुए जीने को पद्धति तो सचमुच गलत है, लेकिन पति के सामयिक अभाव, या आत्यतिक अभाव, के कारण जीवन को व्यर्थ और निस्सार नहीं मान लेना होगा। ऊपरी सुख-चैन से रहने का सुभीता ही क्या जीवन की सार्थकता कहलाएगा? इसलिए वह जीवन जिसमे वियोग ही पूँजी बन जाता है, मेरे विचार मे सेवा के प्रति सहज भाव से उन्मुख होकर विराटता की ओर उठता जा सकता है।

प्रश्न—पति की महानता के प्रति अत्यधिक श्रद्धा होने पर ही वियोग पूँजी का काम दे सकता है, पर जब उस श्रद्धा का व परस्परा प्रेम का अभाव हो तब क्या विच्छेद ही वांछनीय नहीं है।

उत्तर—इस प्रकार की चर्चा में हमे कल्पित उदाहरण का आधार लेना पड़ता है, इसलिए उस चर्चा मे से सही प्रकाश नहीं मिल सकता। महानता हरएक के अन्दर गर्भित है। अगर व्यक्त नहीं है तो कहना पड़ेगा कि सोई पडी है। क्या ऐसे उदाहरण नही हैं कि आरम्भ मे जो तुच्छ व

साधारण समझा गया वह पीछे महान् व असाधारण बन गया। तुच्छ और महान् मे इस तरह कोई गहरी खाई नहीं है। श्रद्धा सामान्य को विशिष्ट बना सकती है। पति के व्यक्तित्व मे पत्नी का भाग नहीं है, यह समझना गलत होगा। अर्थात् पत्नी अपनी ओर के स्नेह और विश्वास से पति के व्यक्तित्व में दबी हुई सभावनाओ को जगा दे सकती है। यह बात जैसे पत्नी के वैसे पति के विषय मे भी कही जा सकती है। मेरा आशय यह है कि दाम्पत्य सम्बन्धो मे परस्पर सहिष्णुता, उदारता और विश्वास से काम ले, तब देखेंगे कि एक-दूसरे की त्रुटियो से उन्हे खिन्न और भिन्न ही नहीं होना पडता, बल्कि सहानुभूति के द्वारा वे परस्पर के लिए पूरक और सहयोगी बनते हैं। किन्हीं भी परिस्थितियो मे उन्हे एक-दूसरे से स्वतन्त्र होने की सम्भावना या स्वाधीनता नहीं है, यह मैं कैसे कह सकता हूँ। पर स्वतन्त्रता का सही उपयोग स्वतन्त्रता देने मे अधिक है। लेने मे नहीं। पत्नी की ओर से मैं चाहता हूँ पति को भरसक स्वतन्त्रता दी जाय, उसी तरह पति की ओर से पत्नी को पूरी तरह स्वतन्त्रता मिली हुई मैं देखना चाहता हूँ। इस दृष्टि मे कर्तव्य पर बल है, अधिकार पर नही। अधिकार की वृत्ति आने पर दाम्पत्य सम्बन्ध टिक ही नहीं सकता है। उसका आधार धर्म हो तब ही उसके भविष्य में टिके रहने की सम्भावना है। 'सोशल कन्ट्राक्ट' के रूप मे विवाह की सस्था बिखर और उजड रही है। उससे कुछ गहरा ही आधार उसे टिकाये रख सकता है।

प्रश्न—सहिष्णुता का गुण दाम्पत्य सम्बन्धों मे घातक ही सिद्ध होता देखा जाता है। माता की सहिष्णुता से पुत्र की और पत्नी की सहिष्णुता से पति की कुवृत्तियों को बल ही मिलता दिखाई देता है, तब सहिष्णुता कैसे वाञ्छनीय हो सकती है?

उत्तर—सहिष्णुता की, जैसे कि प्रत्येक गुण की, इतनी अति हो सकती है कि वह अवगुण हो जाय। लेकिन ऐसा होने के कारण असहिष्णुता को अव-

गुण नहीं कह दिया जा सकता। सहिष्णुता का मतलब दबते जाना और सहते जाना ही न समझ लिया जाय। उसका मतलब है बुद्धि को प्रकृतिस्थ रखकर समभाव से उसका उपयोग करना। आवेश, क्रोध और चिड़चिड़ेपन के सहारे बात को बतगड़ बना दिया जा सकता है। बड़ी कलह के नीचे ऐसी ही कोई बेहद छोटी बात मिलती है जिस पर यदि एक ओर से मुस्करा दिया जाता तो बखेड़ा वहाँ समाप्त हो जाता। हम यदि यह श्रद्धा रखे कि विकार व्यक्ति में आ गया हुआ एक सामयिक रोग है,तो उस पर भड़केंगे नहीं बल्कि सहानुभूतिपूर्वक उसके उपचार मे लगेंगे। सहिष्णुता से मेरा इंगित उसी वृत्ति की ओर है। उसको दब्बूपन के अर्थ मे खींच ले जाना ठीक न होगा।

प्रश्न—बात का बतंगड़ तो बाद में बनने लगता है। पहिले तो दोनों की प्रकृति का विरोध ही असामंजस्य का कारण बनता है जिसके कारण आपस मे सहायता (Understanding) का अभाव हो जाता है। प्रकृति-विरोध की उस खाई के भरने की जब कोई आशा ही नहीं तो ऐसी स्थिति मे विलग हो जाने की क्या आप सलाह न देंगे ?

उत्तर—विलग दोनों होना चाहे तो उसमे तीसरे को क्या कहने का अवसर है ? अच्छा लेकिन यह होगा कि उस अलग होने मे खीझ और गुस्सा न हो, यदि हो सके तो परस्पर प्रसन्न भाव हो।

लेकिन मेरा यह भी मानना है कि दुनिया मे कोई दो व्यक्ति ऐसे नहीं हुए जो एक-दूसरे के लिए जनमे कहे जा सकें। खिचाव और तनाव तो स्त्री-पुरुष में प्रकृत और सहज है। सामंजस्य इसलिए सहज नहीं है, उसे साधना होता है। उसके लिए सयम और अभ्यास की आवश्यकता है। आकर्षण, जिसे प्रेम नाम दिया जाता है, चचल होता है। वह मर्यादा नहीं जानता। उस अन्ध आकर्षण की भूमिका पर सामजस्य को सम्भव मानना एक भ्रम है। इसलिए यह समस्या प्रेम मे, या प्रेम-पूर्व, नही होती, प्राप्ति

के अनन्तर होती है। अर्थात् समस्या विवाहोत्तरकाल की है। प्रेमावस्था मे दूसरी और सब परिपूर्ण और सुन्दर जान पडता है। प्राप्ति के अनतर सौन्दर्य की कमनीयता उड जाती है और प्रेमपात्र मे कई प्रकार का अनगढपन उभरा हुआ सामने दीखने लगता है। उस समय व्यक्ति की बाह्येन्द्रियाँ और उनके वश में रहने वाला मन, ये सामजस्य मे सहायक नहीं होते बल्कि विद्रोही होते हैं। तब एक प्रकार की गहरी निष्ठा ही काम दे सकती है जो चचल मन को काबू मे रख सके। उन इन्द्रियासक्त मन-बुद्धि के हाथो निर्णय देकर तो सामजस्य कभी सिद्ध होने मे आ सकता नहीं है। इसीलिए कहना होता है कि कर्तव्य की दृष्टि, ही जो दूसरे से अपना तर्क नहीं लेती ऐसी जगह काम दे सकती है। अन्यथा दोषारोपण और छिन्द्रान्वेषण से बचा नहीं जा सकता। दोषान्वेषी वृत्ति आ जाने पर गृहस्थी की नैया ठहर नहीं सकती, उसको टूटना या डूबना ही होता है।

प्रश्न—विवाहित स्त्री या पुरुष का एक-दूसरे से प्रकृति साम-जस्य न होने पर कभी-कभी किसी और की ओर मन आकर्षित हो जाता है। ऐसी अवस्था मे इधर की ओर से सम्बन्ध-विच्छेद कर उधर बढना उचित होगा या नही ?

उत्तर—विच्छेद से जहाँ तक हो बचना चाहिए। और इस प्रकार के अन्यत्र आकर्षण को सामयिक विकार मानकर अधिक उद्विग्न और असहिष्णु नहीं होना चाहिए।

प्रश्न—अपने पति की अपेक्षा उस पुरुष से यदि अधिक प्रकृति-सामजस्य दीख रहा है, उसको लेकर अधिक सुखी जीवन की आशा हो रही है, तब स्त्री क्यों उधर न बढे ?

उत्तर—दीख रहा है, इसीलिए वह सामजस्य वहाँ है, यह मान लेने की जल्दी नहीं करना चाहिये। प्रेमावस्था मे सामजस्य-ही-सामजस्य दीखता है, उस हरे-भरे भ्रम मे विवाह भी हो जाते हैं, पर उन प्रेम-विवाहों मे पीछे

फिर सामंजस्य की जगह असामंजस्य इतना उत्कट और विषम होता देखा गया है जिसकी हद नहीं। प्रेम-विवाहों का अक्सर घोर क्लेश मे अन्त होता है। यानी ऊपर से कुछ लुभावना दीखता है, इसी से उसके लोभ में पडना जरूरी नहीं मान लेना चाहिये।

प्रश्न—यदि जल्दी मे निर्णय न लिया जाय, स्थिर चित्त से विचार करने पर भी उस विवाह मे ही अपने जीवन की कृतार्थता लक्षित हो तब उस परिस्थिति को स्वीकार करने मे क्या कोई हर्ज है ?

उत्तर—मुझे कभी-कभी ऐसा मानने की इच्छा होती है कि विवाह हमारे हाथ की चीज नही है, वह नक्षत्रोंसे निर्धारित होता है। जैसे वह एक संयोग है। अत्यन्त जागृत बुद्धि भी वहाँ चूक सकती है। टॉलस्टाय बडी बारीकी से अपने प्रेम का और प्रेम-पात्र का विश्लेषण किया करते थे। रोज डायरी मे उसे दर्ज करते थे। बहुत ही सावधान होकर उन्होंने देखा और देखकर विवाह किया। वह विवाह सफल हुआ केवल इस अर्थ मे कि पर्याप्त प्रजोत्पत्ति हुई। पर दूसरे अर्थ मे विफल हुआ। कारण कि उसमें प्रचुर सन्ताप और क्लेश की सृष्टि हुई। समझ मे नहीं आता कि इस दुनियाँ मे जहाँ सौन्दर्य की, यौवन की और बनाव की कमी नहीं है वहाँ व्यक्ति अपने को भाग्याधीन न छोड़े तो क्या करे, किसी एक पर मन आकर अटक सकता है, लेकिन अन्तकाल तक भी वहीं टिका रहे तो उसे मन की सज्ञा ही क्यों मिले और विज्ञ लोग उसका लक्षण चंचलता ही क्यो ठहराएँ ? इसलिए तुम चाहे कुछ कहो मैं तो इस मामले मे चाह के हाथ लगाम देने का कायल नहीं हो पाता हूँ, बल्कि भाग्य के आगे नतमस्तक हो रहने मे अधिक उपयुक्तता देखता हूँ।

प्रश्न—आखिर समझ जैसी चीज कुछ तो है ही, जिससे समझा जाता है कि अमुक व्यक्ति मेरे अनुकूल होगा और अमुक

प्रतिकूल। उससे काम लेने के विषय मे आप क्या कहते है ?

उत्तर—समझ को सुलाना जरूरी नहीं, पर आदमी मे एक गहरी समझ भी होती है जो अक्सर ऊपरी समझ की पकड़ में नहीं आती। इस गहरी समझ को जगाए रखना बहुत जरूरी है। और यह गहरी समझ बताएगी कि गुण और रूप, श्रेय और प्रेय ये दो सदा साथ नहीं चलते हैं, बल्कि कभी विरुद्ध भी प्रतीत होते है। रूप को हम इन्कार नहीं कर सकते, किन्तु गुण का स्वीकार हम गहरीसमझ के आधार पर ही कर पाते हैं। और सबसे गहरी समझ, जिसे श्रद्धा कहा जा सकता है, यह है कि परमात्मा सब मे है। यदि हम उस निष्ठा को लेकर चल सके तो देखेंगें कि कम योग्य साथी मे ऊँची सम्भावनाएँ जगाने मे हम समर्थ हो सके हैं। इस दुनिया के व्यक्तियो मे सब आदमी ही हैं, कोई देवता नही है। भीतर का देवत्व जगाकर ही क्रमश. देवता बनना होता है। समझ से काम लिए बिना चल नहीं सकता, पर गहरी समझ का पल्ला छोडने और रूपाकर्षण पर लुब्ध होने वाली समझ के हाथ जीवन की पतवार दे देने से भी नहीं चलेगा बल्कि सब डूबेगा।

प्रश्न—यदि पति पत्नी मे अथवा पत्नी पति मे देवत्व जगाने मे असमर्थता अनुभव करती है और दूसरे किसी को लेकर जीवन की यात्रा मे सहयोग की अधिक आशा रखती है तो विच्छेद करने की सलाह आप देगे क्या ?

उत्तर—तुम्हारा दिया उदाहरण कल्पित है, इसलिए सलाह भी कल्पनागत होगी, जिसकी आवश्यकता नहीं है। वह स्थिति सम्भव है जहाँ विच्छेद की सलाह देना मैं श्रेयस्कर मान सकूँ, पर वह स्थिति काल्पनिक नही तात्कालिक ही होगी।

पति-पत्नी सम्बन्ध वह है जिसमें एक-दूसरे की उत्कृष्टता ही परस्पर प्राप्त नही बनती, बल्कि निकृष्टता भी निवेदित होती है। उस सम्बन्ध का महत्त्व ही इसी मे है। औपचारिक सम्बन्धो मे हम निकृष्ट को अपने पास

रोक लेते हैं और उत्कृष्ट को ही समक्ष करते है। यानी वह समग्र और निर्बन्ध सम्बन्ध नही होता। पति और पत्नी को इसी अर्थ मे परस्पर कृतज्ञ होने का कारण है कि जो सर्वथा अदेय है, जिसे स्वयं निज मे अनुभव करने में व्यक्ति को कुण्ठा का अनुभव होता है, वह भी दूसरी ओर से उसे प्राप्त बनने दिया जाता है। साधारणतया यह गर्व का विषय नहीं है। फिर भी दाम्पत्य जीवन को गरिमामय बनाकर देखा जा सका है, सो भी इसी कारण। यानी स्त्री पुरुष की ओर से और पुरुष स्त्री की ओर से कुत्सित और जुगुप्सा जनक को भी जिस सम्बन्ध मे स्वीकार्य भाव से ग्रहण करते है और परस्पर को निबाहते सहते है, वह सम्बन्ध प्राकृतिक न होकर भी सास्कृतिक है। उसका आधार ही तप और संयम है। अन्यथा आकर्षण वाले प्रेम के साथ घृणा भी चलती है। और जहाँ उस प्रेम की स्वतन्त्रता है वहाँ द्वेष और हिंसा और जोर-जबरदस्ती की भी स्वतन्त्रता को होना ही होगा। ऐसे चौपायों का वर्ग तो रह सकता है, मनुजो का समाज नहीं पनप सकता।

फिर विवाह-सम्बन्ध व्यक्ति को बन्द कर देता है, यह समझने का तो कारण नहीं है। स्त्री और पुरुष पत्नी-पति बनकर गृहस्थी को अपने लिए जेलखाना बना ले, इसका तो समर्थन नहीं है। उनका वह भाग जिसको अत्यन्त व्यक्तिगत मानने के कारण सामाजिक अर्थ मे अनुपादेय और निकृष्ट भी कह सक्ते है, वही तो वहाँ सिमिट कर सीमित हो रहता है। शेष तो समाज को और जगत् को मिलते रहने के लिए खुला है ही। अर्थात् उन स्त्री-पुरुषों की उदारता, उत्कृष्टता, उनकी प्रतिभा, मेधा, कुशलता आदि का दान और व्यय तो सबके प्रति होते ही रहना है। यह मानने का कोई कारण नहीं कि स्त्री के जीवन मे पति के अतिरिक्त अन्य पुरुषो का सद्भाव ही नहीं है, अथवा कि पुरुष के लिए अन्य सब स्त्रिया लुप्त हो जाती हैं। विवाह का अगर इस प्रकार जकड़बन्द अर्थ लिया जाता हो तो मैं उससे सहमत नहीं हूँ।

इस तरह देखा जा सकता है कि पति के लिए पत्नी बनकर जब कि एक स्त्री नितात साधारण, अवगणनीय और तुच्छ हो गई है तब वही किसी अन्य पुरुष के लिए अत्यन्त कमनीय बनी हुई है। पति उसे मारता है, प्रेमी उस पर मरता है। प्रेम की आँख के लिए जो अप्सरा होती है, वही क्या निपट गिरस्ती की चक्की मे अपदार्थ नहीं बन आती ? पिता और मास्टर के लिए जो अभी पीटने के लायक है वही नवयुवक प्रेमी के लिए इतनी आराध्य हो रहती है कि उससे वञ्चित होकर उस युवक को आत्मघात के सिवा और कुछ सूझना बन्द हो जाता है। विवाह के अनन्तर इस प्रकार के उत्सर्गशील, स्वप्निल और उदात्त भावो की क्रीडा के लिए अवकाश समाप्त नहीं हो जाना चाहिए। पत्नी नाम की स्त्री का सौन्दर्य तिजोरी मे बन्द रखने को नही है। वह उसका है तो दोषरूप मे नहीं गुण रूपमे है और विवाह को उस पर प्राचीर बनकर घिराने का हक नही है। यानी सौन्दर्य में देवत्व जगाने की जो क्षमता है उसका उपयोग विवाह से सीमित या समाप्त नही होना चाहिए। वैसा होना अनिष्ट है, विवाह की वह सार्थकता नही है।

पुरुष और स्त्री में स्थिति एवं प्रकृति की विषमता

प्रश्न—क्या आप कामना की दृष्टि से स्त्री और पुरुष में कोई अन्तर मानते हैं ? पुरुष स्त्री की अपेक्षा क्या अधिक कामुक और स्त्री अधिक भक्ति-प्रवण कही जा सकती है ?

उत्तर—मैं व्यक्तियों मे भेद कर सकता हूँ, वर्गों मे नहीं। वर्गों मे आनुषगिक (functional) भेद है, आतरिक नहीं।

प्रश्न—आनुषगिक (Functional) भेद से आपका तात्पर्य क्या शरीर-धर्म (function) से ही है ? शारीरिक और मानसिक को इस प्रकार क्या आप नितान्त भिन्न करके मानते हैं ?

उत्तर—आनुषगिक (Functional) को कर्म-विषयक कह लो। मन और तन के भेद का प्रश्न यहाँ नहीं उठता। कर्म तन द्वारा होता है, पर होता मन से है। यो समझो कि स्त्री-पुरुष भेद कर्म-विषयक है, प्राण-विषयक उनमे अभेद है।

प्रश्न—स्त्री-पुरुष मे क्या भेद आप मानते हैं, क्या इसका सविस्तार विश्लेषण कर सकेगे ?

उत्तर—क्या यह जरूरी है ?

प्रश्न—जरूरी है तभी पूछ रही हूँ। आप बहुधा कहा करते है कि स्त्री का विकास व्यक्त द्वारा होता है, जब कि पुरुष के लिए व्यक्त आधार की उतनी आवश्यकता नहीं है।

उत्तर—तो फिर इतना ही काफी क्यों न समझा जाय ?

पुरुष और स्त्री मे स्थिति एव प्रकृति की विषमता

प्रश्न—इससे बात स्पष्ट नहीं होती। किस आधार पर आप स्त्री-पुरुष मे यह भेद मानते है ?

उत्तर—भेद मानने के लिए आधार को कहाँ ढूँढने जाना है ? वह तो खुली आँखो दीख आने वाला है। यह कि स्त्री को व्यक्त का आधार चाहिए जबकि पुरुष की उन्मुखता अव्यक्त के प्रति है—यह मेरा उस सम्बन्ध मे अपना निकाला हुआ परिणाम है। दूसरे शब्दों में यह मेरी भाषा है। हम जहाँ रहते हैं, उसके दो सिरे हैं : धरती और आसमान,—और सब बीच मे है। आसमान सदा एक समान नीला रहता है, असल मे उसमे रग ही नहीं है। सच पूछिये तो उसमे वस्तुता ही नहीं है। धरती व्यक्त है, ठोस है और नाना वर्ण और प्रकार के फल-फूल से भरी शोभामयी बनी रहती है। यों सुबह-शाम आसमान पर रगच्छटा की वह अपूर्व शोभा खिल जाती है कि क्या कुछ उसकी उपमा मे ठहर सके, पर वह शोभा आकाश की नहीं होती, आकाश पर ही होती है। मुझे लगता है, धरती स्त्री है, वह जननी है, धरिणी है, भरिणी है। पुरुष आसमान रहने के लिए है कि जहाँ एक फूल तक का होना सम्भव नहीं। आकाश-कुसुम कहना मानो भाषा द्वारा बडी-से-बड़ी व्यर्थता को चित्रित करना है। पुरुष अपने में इतना निष्फल है कि वन्ध्या तक भी उसे नहीं कहा जा सकता। 'सब देशों और सब कालों मे स्त्रियाँ ही जो चटकीले कपड़े पहिनती दिखाई देती हैं, सो वृथा ही नहीं हैं। वह उनके भीतर के स्व-भाव धर्म की ही अभिव्यजना है। अब उन धरती और आसमान मे लड़ाई ठनने की बात तुम मत करना। उन्हे बिम्ब-प्रति-बिम्ब भाव से परस्पर को धारण रखना पडता है। आकाश भारहीन है, फिर भी भारवाही वही है।

प्रश्न—स्त्री-पुरुष मे यह भेद देखते हुए भी यह बात अब भी मेरी समझ मे नहीं आई कि आप स्त्री के लिए अध्यात्म-प्राप्ति में व्यक्ति का सहारा लेना अनिवार्य क्यो मानते हैं जब कि पुरुष

के लिए नहीं मानते ?

उत्तर—पुरुष आकाश की तरह अपने पर कुछ भी धारण नहीं कर सकता, अर्थवती स्त्री ही होती है। यानि अपने में अर्थ-धारणा के लिए वह इतर के प्रति-अपेक्षा शील है। इसी अर्थ मे व्यक्त का आधार उसे आवश्यक कहा। आसमान की वह अवस्था नही है—कह सकते है कि वह है ही नहीं, यानि परिधि मे नही है। एक धरती से दूसरी धरती तक, यहाँ से वहाँ तक फैला हुआ है। कुछ न होना ही जैसे उसका होना है। वही उसका इष्ट और स्वभाव है। वह अव्यक्त है और व्यक्त की अपेक्षा मे नहीं है। लेकिन इन बेकार महीन बातो को छोड़ ही क्यो न दो ! कुछ काम की बात हाथ मे लो।

प्रश्न—मैं तो इसे भी काम की बात मानती हूँ। पुरुष के कुछ न होने वाली बात अथवा उसके व्यक्त की अपेक्षा न रखने वाली बात अब भी मैं नहीं समझ सकी हूँ।

उत्तर—स्त्री पुरुष मे से अपना फल लेती है। पुरुष स्त्री मे सिर्फ अपना मरण खोजता है। मरण शब्द से घबराने की जरूरत नहीं है। जन्तु-जगत् मे तो बहुधा वह मरण यथार्थ ही सम्पन्न होता है। मनुष्य उसमे से फिर नये जीवन मे उत्पन्न होता है। मिथुनाचार मे उसे कोई फलाकांक्षा नहीं है, फल मे उसकी सार्थकता ही नहीं है। स्वय का होना उसे सता उठता है। तब एकदम न-होने का उसका धर्म उस पर हावी हो जाता है। व्यक्त मे अव्यक्त के प्रथम इस तिरोभाव और फिर फल मे से उसी के प्रादुर्भाव की यह निसर्ग-चेष्टा सृष्टि की परम्परा का कारण होती है।

प्रश्न—स्वयं को मिटाना जब आप पुरुष की प्रकृति का एक अनिवार्य अग मानते है तब स्वयं को मिटाने के व्यक्त साधन को भी आपको पुरुष के लिए अनिवार्य मानना चाहिए। तब पुरुष के लिए व्यक्त का आधार आवश्यक क्यों नहीं मानते ?

उत्तर—अच्छा, मान लिया। तो—?

प्रश्न—तब फिर आप क्यों कहते हैं कि स्त्री के लिए व्यक्त आधार जितना अनिवार्य है उतना पुरुष के लिए नहीं ?

उत्तर—स्त्री को फल यानि जीवन चाहिए, पुरुष को मरण। अपने मरण में उपलब्ध बने व्यक्त के उपयोग को तर्क के बल पर तुम सहारा लेना कहो तो कह दो, पर मरने वाले के साथ यह अदया है।

असल में पूछो तो पुरुष स्त्री में अपना मरण खोजता है, पर पाता नहीं। इसलिए कि अव्यक्त व्यक्त में खिल सकता है, मिट नहीं सकता। इसी से पुरुष बार-बार स्त्री में मरकर जब अपने को जीता पाता है तो वह जान जाता है कि पूर्ण मरण वहाँ नहीं है। वह तो व्यक्ताव्यक्त के उस अधि-ष्ठाता में है जो हर कहीं में समाया हुआ है। ब्रह्मचर्य उसी समष्टिगत भोग का नाम है और उसी में पुरुष की चरम परिणति है।

प्रश्न—क्या आपके कहने का तात्पर्य यह है कि पुरुष को स्त्री में उसका चरम साध्य नहीं मिलता पर स्त्री को पुरुष में परम सिद्धि मिल जाती है।

उत्तर—'परम' शब्द को छोड़ो। स्त्री पुरुष के योग से अपने में सन्तति पाती है—पुरुष क्या पाता है? इस भेद को, 'परम' शब्द बीच में लाए बिना पहचानना क्या इतना असम्भव है?

प्रश्न—'परम' को लाना आवश्यक इसलिए लग रहा है कि स्त्री-पुरुष दोनों का ही लक्ष्य यह परम सिद्धि है। मैं यह जानना चाहती थी कि स्त्री को क्या यह पुरुष में ही मिल जाती है। इसके अतिरिक्त साधन की आवश्यकता नहीं? और पुरुष को क्या स्त्री में बिलकुल कुछ भी दर्शन नहीं होता। जो परमात्मा के प्रति उसका मार्ग प्रशस्त कर दे।

उत्तर—दोनों का मुँह एक-दूसरे की तरफ हो तो दोनों चल नहीं

सकते, टकरा ही सकते हैं। राह जहाँ सकरी हो वहाँ जरूरी है कि एक का मुँह आगे आकाश की तरफ हो और दूसरे का मुँह उसी तरफ होने के लिए पहिले की पीठ की तरफ हो। मुझे कहना है कि इनमें पहला पुरुष के भाग्य में होना बदा है। इसको बड़ी बात मैं नहीं कहता, सिर्फ बड़े जोखम की बात कहता हूँ। राह जहाँ सकरी नहीं है वहाँ दोनों साथ-साथ सामने की तरफ देखते हुए चल ही सकते हैं। पर वह संसार-यात्रा है, तीर्थयात्रा उससे कुछ दुर्गम हुआ करती है और वहाँ के लिए पक्का राजमार्ग बना हुआ नहीं होता। उसी जगह के लिए यह बात है।

प्रश्न—आपके कहने का आशय यही हुआ न कि स्त्री व्यक्त के माध्यम से अव्यक्त को पाती है जबकि पुरुष सीधा अव्यक्त की ओर जा सकता है। इस अन्तर का क्या रहस्य है?

उत्तर—हृदय के रागात्मक सम्बन्ध के लिए कुछ प्रत्यक्ष और स्पष्ट चाहिए। ऐसी उपासना सगुण का सहारा लेती है। लेकिन निर्गुणोपासना भी है। वह अपेक्षाकृत बौद्धिक व्यापार है और मुख्यतः मनुष्य के माथे आया है।

प्रश्न—आप तो कह चुके हैं कि बुद्धि के स्वैरिणी हो जाने से नकार और भोगाचार की ओर प्रवृत्ति होती है। तब पुरुष बौद्धिक होकर साध्य को कैसे पा लेता है?

उत्तर—वह खतरा तो पुरुष के मार्ग में है ही। ईश्वर-रूप सत्य के पाने के प्रयत्न में जो मानव जाति का विज्ञान अणुबम के आविष्कार पर आ लगा है, सो उसी खतरे को दरसाता है। मूल में अगर सूक्ष्मातिसूक्ष्म दशमलव अंक परिमाण की भी यदि चूक हो जाय तो परिणाम में भगवान् के नाम पर शैतान ही हमारे हाथ आ ठहरता है। हृदय की सीधी सराग और सगुण उपासना में उतना जोखिम नहीं है। भक्ति निरापद है। किन्तु ज्ञान—उसकी कथा और विडम्बना तो इतिहास पर लिखी है। इसीलिए तो कहा था कि पुरुष के भाग्य में जो है उसे बड़ापन न मानकर बड़ा बोझ ही

माना जाय।

प्रश्न—इसका तात्पर्य यही हुआ न कि स्त्री के लिए बौद्धिक होने का ज्यादा खतरा नहीं है और उसका मार्ग पुरुष की अपेक्षा अधिक सुगम है?

उत्तर—हाँ, बहुत कुछ यही है। पति सुलभ है, गुरु दुर्लभ। पति है तो सतीत्व की राह सीधी है। किन्तु बुद्धि को मिली हुई तर्क शक्ति सहज किसी को गुरु मानने ही कब देती है। इस तरह उस राह को थोड़ा दुर्लभ कहा जा सकता है।

प्रश्न—पुरुष के स्त्री की अपेक्षा अधिक बौद्धिक होने के कारण क्या है। क्या आप इस बात पर प्रकाश डाल सकेंगे?

उत्तर—कारण में इसके सिवा क्या कहा जाय कि पुरुष पुरुष है और स्त्री नहीं है। सृष्टि के मूल में ही यह भेद है। अद्वैत जब द्वैत में व्यक्त हुआ तो शायद वहीं से यह विभक्तीकरण हो गया। वहाँ हमारा 'क्यों और किस कारण' कैसे पहुँचे? एक के अनेक होने की आवश्यकता के मूल में शायद वह गर्भित है। कोई मुझसे पूछे कि गर्भ स्त्री को ही क्यों धारण करना होता है, तो बताओ इसका क्या जवाब होगा, सिवा इसके कि वह स्त्री है?

प्रश्न—पुरुष और स्त्री की मूल प्रकृति में ऐसे ही और भी भेद आप मानते होंगे। क्या उनका विश्लेषण कर सकेंगे?

उत्तर—विश्लेषण की आवश्यकता नहीं। भेद प्राणगत नहीं है, कर्म-गत है। कर्म से मतलब इन्द्रिय व्यापार से है। मन को भी छठी इन्द्रिय मान लें। उस भेद को अध्यात्म की दृष्टि से उतना मौलिक हम नहीं भी मान सकते हैं। अर्थात् प्राण की भूमिका पर, यानी परमेश्वर की निगाह में, दोनों अभिन्न और समान है। स्थूल व्यापार में जो भेद प्रत्यक्ष है उसके अनुकूल ही मनोभावों में भेद समझ लें। इससे ज्यादा विस्तार में जाने की कोशिश बात को चकरा सकती है, सुलझा नहीं सकती।

पुरुष की स्वच्छंदता और नारी की सहिष्णुता

प्रश्न—प्रकृति की ओर से प्रेम मे यातना स्त्री के पल्ले ही अधिक पड़ती है न ?

उत्तर—पुरुष से तो प्रकृति जवाब तलब करने जाती नहीं और स्त्री माता बनने को पीछे रह जाती है। प्रकृति की ओर से इसको चाहे तो पक्षपात कह लिया जाय, पर तथ्य के रूप मे यह अन्तर अनुल्लंघनीय है। किसी तरह का भी विधान स्त्री की जगह पुरुष को माता नहीं बना सकता। तब उस अन्तर पर रोष लाने से नहीं बनेगा, सन्तोष और कृतार्थता के साथ स्वीकार करके ही उसे सार्थक बनाना होगा। हॉ, मैं मानता हूँ कि दुःख बाहर से नहीं आता, अन्दर से आता है—अर्थात् किसी के वश मे उसे देना नहीं है, सबका वश उसके भोगने मे ही है। जो स्वेच्छा से उसे भोगता है, उसे फिर किसी दूसरे पर उसे फेकने की आवश्यकता नही रहती, यानी जो दुःख देता हुआ दीखता है, वह स्वय दुःख पा रहा है; देता इसलिए दीखता है कि वह उसको स्वकीय भाव से नहीं ले रहा, बलात् उसे ढो रहा है। इसी से वह अपने दुःख भोग को दूसरे पर डालकर अपने को हल्का करना चाहता है। दुःख देना आत्मीयता के माध्यम से होता है। जो अपना नही है, उसको हम दुःख नहीं दे सकते—अर्थात् पुरुष से मिलता हुआ दुःख तो स्त्री के लिए बिलकुल चिन्ता का विषय नहीं होना चाहिए। उसके लिए स्त्री चाहे तो उल्टे कृतज्ञ हो सकती है। बालक मॉ को ही न सतायगा तो अपना त्रास निकालने वह कहॉ जायगा ? प्रेयसी बनाकर जिस पर पुरुष

अपना सब-कुछ वार देने को लाचार हो पडा है, दुःख को उसके सिवा भला वह और कहाँ डालने जाय? स्त्री को यह समझना चाहिए। और स्त्री पुरुष के लिए प्रेयसी हुए बिना रह नहीं सकती। प्रेयसी बनती है, इसी से दासी बन सकती है। अतः पुरुष से मिलने वाला दुःख जब कि उसके लिए चिन्ता का विषय नहीं होना चाहिए, तब वह स्वयं जो अपने भीतर से दुःख उपजा बैठती है वह गम्भीर चिन्ता का विषय हो सकता है। असल दुःख तो वह ही है, जो उसे झिंझोरे डाल रहा है। उसका मूल रूप वैयक्तिक है, आत्मिक है, मानसिक है। सामाजिक तो उसे औपचारिक भाव से ही कह सकते हैं।

प्रश्न—पर ऐसा दुःख पुरुष के हिस्से तो कम ही आता है न? इसका कारण क्या आप दोनो की प्राकृतिक विभिन्नता मे देखते हैं?

उत्तर—नहीं, दुःख बाह्य प्रकृति की ओर से नहीं, अन्त प्रकृति की ओर से आता है। वहाँ स्त्री और पुरुष मे जातिगत भेद मैं नही देखता। इसलिए दुःख का अधिकार स्त्री-पुरुष में किसी को कम-अधिक मिला है, यह मानने की आवश्यकता नहीं।

प्रश्न—किन्तु मुझे तो दोनों की अन्त प्रकृति मे स्पष्ट भेद दीखता है। स्त्री के अन्तस्थ सहज विश्वास की भावना का लाभ पुरुष बराबर उठाता चला आया है, इसका प्रमाण नित्यप्रति मिलता रहता है।

उत्तर—स्त्री से पुरुष लाभ पाए, इसमे स्त्री को शिकायत क्यों? लाभ से शायद तुम्हारा मतलब दुर्लाभ से है। तो क्या अपनी विश्वासी प्रकृति को स्त्री अवगुण मानना चाहती है? मान लो, पुरुष मे विश्वास कम है, इसलिए वह ठग लेता है, स्त्री मे विश्वास की मात्रा अधिक है, इसलिए वह ठगी जाती है। तो क्या तुम यह कहना चाहोगी कि स्त्री भी पुरुष के

समान विश्वासहीन बन जाय, तो उसका दुःख कम हो जायगा? मैं मानता हूँ कि इस पद्धति से न दुःख कम होने वाला है, न कुछ और होने वाला है। ऐसे स्त्री और पुरुष में अनबन ही बढ़ने वाली है।

प्रश्न—नहीं, मैं स्त्री और पुरुष में होड़ की हिमायत तो नहीं करती, किन्तु आप से यह पूछना चाहती हूँ कि स्त्री और पुरुष की प्रकृति में भेद आप मानते हैं या नहीं? मानते हैं, तो क्या उस भेद का विश्लेषण करके बता सकते हैं?

उत्तर—उनमें के स्वभाव-भेद को मैं उनके शरीर-भेद के अनुकूल ही मानता हूँ। इतना गहरा प्रकृति-भेद उनमें मैं नहीं मानता कि उसे व्यक्तित्व-भेद के रूप में देखा जा सके। कदाचित् कहा जा सकता है कि पुरुष बुद्धि है, तो स्त्री हृदय। एक युक्ति-प्रधान है, तो दूसरा राग-प्रधान। एक वृक्ष है, तो दूसरी लता है। एक को सूर्य, तो दूसरे को चन्द्र कह लो। एक को गति कहो, तो दूसरी को स्थिति। उसको आकाश, तो इसको धरती। ये उपमाएँ हैं और तथ्य की काफी झलक इनमें है। लेकिन सत्य को इनमें बँधा नहीं देखा जा सकता। प्राणिशास्त्र बतलायगा कि स्त्री और पुं-तत्त्व सर्वथा शुद्ध भाव में यथार्थ में कहीं मिलते ही नहीं। यानी सब व्यक्ति मूलतः दोनों तरह के तत्त्वों के न्यूनाधिक मात्रा के मिश्रण हैं। यों लिंग-भेद तो प्रकट है ही, पर उस भेद को अधिक गहरा ले जाने की जरूरत नहीं है। उस भेद से प्रधान अथवा गौण या उच्च अथवा नीच जैसी श्रेणी निकल आने की कुछ सामग्री मिलती है, ऐसा मैं नहीं मानता।

प्रश्न—फिर अधिकतर पुरुष एक प्रकार से और स्त्री उससे सर्वथा भिन्न प्रकार से आचरण करते क्यों दिखाई देते हैं? उदाहरणार्थ, अधिकतर प्रेम कहानियों के मूल में स्त्री के सहसा पुरुष पर विश्वास कर उसके चक्कर में फँसने की और पुरुष के उसे धोखा देने की, स्त्री के यातना पाने की, बात सुनने में क्यों

आती है ?

उत्तर—बहुत-कुछ तो कारण यह मालूम होता है कि पुरुष की व्यथा की कहानी स्त्री के मन तक कम उतर पाती है। यह समझना कि पुरुष के पास व्यथा कम है, सही नही है। हाँ, शिकायत का मौका कम है, क्योंकि अपने को निर्बल मानकर चलने का अवसर उसके लिए नहीं है। यह सुभीता स्त्री सहज भाव से अपनाये रखती है। यूँ तो कहा जा सकता है कि पुरुष किसी तरह भी गर्भ-धारण आदि की यातना को नहीं समझ सकता। लेकिन इस अन्तर मे यातना की न्यूनाधिकता मै नही देख पाता हूँ। अब भी जातियाँ हो सकती हैं, जहाँ की व्यवस्था मातृक हो, वहाँ क्या अचरज है कि अपने दु:खो का रोना पुरुष को रोना पडता हो। यानी दु:ख क्लेश का सम्बन्ध मानसिकता से विशेष है, प्राकृतिक भेद से उतना नहीं, ऐसा मैं मानता हूँ।

प्रश्न—स्त्री को यातना केवल लगती है, वास्तव मे नहीं होती—यह बात तो हमारे नित्यप्रति के पुरुषों के अत्याचारो के अनुभव के विरोध में पड़ती है। स्त्री को यातना मिलती ही है, यह तथ्य है। इसका कारण आप बताइए। क्या पुरुष की प्रकृति में यह यातना देना और स्त्री की प्रकृति मे भोगना आप नहीं मानते ?

उत्तर—यातना अपने पास से ही कोई किसी दूसरे को दे सकता है। यानी देने वाला स्वयं यातना पा रहा है, यह निरपवाद सत्य ही मान लेना चाहिए। ऐसे स्त्री की यातना का बोझ उस पर और पुरुष का पुरुष पर देखा जाय, तभी निस्तारा हो सकता है। यह दृष्टि किसी भी तर्क या विज्ञान मे से नहीं आ सकती। केवल श्रद्धा और आस्तिकता में से ही यह प्राप्त हो सकती है। जगत् जगदीश्वर की अभिव्यक्ति है। जगदीश्वर दयामय, प्रेममय है। उनके ससार मे तो दया-माया ही है। जिस अश मे ऐसा नहीं है, यानी जिस अनुपात मे मैं कुछ और अनुभव करता हूँ, तो उस अनुभव

भोग का दोष अपने से बाहर मैं किसी भी तरह नहीं डाल सकता। कारण, वह अपने से बाहर जगदीश्वर पर ही दोष डालना हो जायगा। इस तरह आस्तिकता की यह दृष्टि तर्क के तारों मे घिरने मे नहीं आ सकती। लेकिन तर्कातीत रूप मे ही सही, मैं अपने को (इसलिए सबको) उसी मे सम्पूर्ण निष्ठा रखने की सलाह देना चाहता हूँ।

स्त्री अपने दुःख को पुरुष के माथे डालकर उससे निवृत्ति पा सकती है, यह धारणा निर्मूल है। ऐसा हुआ है न हो सकता है। सुख पाने के लिए सुख देने से आरम्भ करने के सिवा दूसरा उपाय नहीं है। इस नियम मे स्त्री-पुरुष का भेद नहीं है। पुरुष के न्याय-ग्रन्थों में स्त्री को कम लाछित नहीं किया गया है। अवगुणो की खान ही उसे बता दिया गया है। लेकिन यह उसका अपने मन की खीझ निकालना और अपने मन को समझाना है। उस प्रयत्न से स्त्री की कक्षा और प्रतिष्ठा नीची नहीं होती। स्वस्थ मन की स्त्री इस तरह स्त्री-जाति के लिए प्रयुक्त हुए प्रत्येक निन्दात्मक शब्द मे कहने वाले की खिसियाहट और मन-बुझौवल को देख लेगी और स्वयं उस दोष मे नहीं पडेगी। ऐसे ही मैं देखता हूँ पुरुष को दोष देने में अधिकाश स्त्री की खीझ और खिसियाहट ही है? क्या मैं आशा न करूँ कि स्त्री उसमे अधिक स्वस्थ्य होगी?

प्रश्न—मेरा तात्पर्य पुरुषो मे दोष निकालना नहीं है और न उनके प्रति स्त्री-जाति की खीझ प्रकाशित करना ही है। मैं तो नित्यप्रति की स्त्री-पुरुष-प्रेम-सम्बन्धी घटनाओं के आधार पर पुरुष को कुछ भिन्न तत्त्वो का ही बना पाती हूँ। इसलिए उसकी प्रकृति का विश्लेषण आपसे चाहती हूँ।

उत्तर—हॉ, यह भेद तो है और उसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। पुरुष स्त्री मे लुभा सकता है, उसमे अपने को रोक नहीं सकता। पुरुष की सार्थकता कभी स्त्री में नही है। पुरुष निसर्ग से वेगोन्मुख है। उधर बढने

को वह लाचार है कि जिधर संकट है और रहस्य जान पड़ता है। उसका यह स्वभाव स्त्री को अबूझ ही रहता है। स्त्री इस ओर माता बनकर सफल होती है। उसमें उसे पुरुष का योग अपेक्षित है। इसलिए स्त्री अपनी सार्थकता पुरुष में और पुरुष के द्वारा देखने को बाध्य है। पुत्र के लिए उसे पति चाहिए। पुत्र के बिना स्त्री वन्ध्या है। पुरुष को पुत्र अपने लिए नहीं, केवल अपनी सम्पत्ति और वंश के लिए चाहिए। वह उस अर्थ में और उस रूप में पुत्र पर निर्भर नहीं है। स्त्री और पुरुष की प्रकृति का यह अन्तर समझने और अपनाने में जब तक चूक रहेगी, तब तक कठिनाइयाँ बढ़ती ही जायँगी। पुरुष से पुत्र पाने को स्त्री सार्थकता न मानकर अपनी अवज्ञा समझ सकती है। निश्चय ही पुत्र उसे पति से दूर करता है, वह पुत्र दोनों में व्यवधान बनता है। पुत्र पाकर अवश्य ही वह कुछ अंश में पति को खोती है। माता बनकर प्रियतमा वह कम होती है, पुरुषानुरक्ति में वह इसको चाहे तो अपनी यातना बना ले, लेकिन इसमें वह अपने साथ अन्याय करती है। यशोधरा गौतम बुद्ध के प्रति चाहे तो शिकायत का भाव रख सकती थी, या राहुल को लेकर उनके प्रति कृतज्ञ भी बनी रह सकती थी। इस क्षण का प्रेम, केवल इसलिए कि अगले क्षण वह नहीं है, क्या निन्दनीय ठहरना चाहिए? प्रेम तो क्षण को भी शाश्वत बनाता है। पति-पत्नी सम्बन्ध में परस्पराधिकार की भावना को लेकर उस दिव्य प्रेम की हम अप्रतिष्ठा कर चलते हैं। स्त्री की ओर से अक्सर इसमें चूक होती है। प्रेम दावे को नहीं सह सकता। जहाँ अधिकार है, वहाँ ही प्रेम के न रहने की सम्भावना हो जाती है। विवाह-संस्था अधिकारमूलक समझी जाती है। साम्पत्तिक व्यवस्था उसके हिसाब से चलती है। इसलिए विवाह और प्रेम के द्वन्द्व में से तरह-तरह की समस्याएँ पैदा होती हैं। प्रेम मुक्त है, विवाह एक संस्कार और मर्यादा है। ऐसी कोई कीमिया निकल आयगी कि समस्याएँ होना बन्द हो जायँ, यह समझना भ्रम है। मर्यादाओं में ही मुक्ति

साधी जा सकती है, ऐसा मेरा विश्वास है। लेकिन यह तो बहुत बडी कला है। सारी जीवन-कला ही यह है। उस साधना मे कठिनाइयों और उलझनों का आना तो उस साधना-पथ के माहात्म्य को बढाता ही है।

प्रश्न—तो फिर पुरुष की इस प्रकृति के कारण ही तो स्त्री को यातना मिलती है न? पुरुष हवाई है और यह कहना आसान है कि प्रेम के क्षणों को अमूल्य समझकर शिकायत न करनी चाहिए। पर नारी जो सर्वस्व भाव से उसी प्रेम में सार्थकता देखती है, अकस्मात् उस प्रेमी के टूट जाने से दुखी तो होगी ही, क्योंकि वह पुरुष की तरह एकाएक अपना मन दूसरी ओर लगाने मे कठिनता अनुभव करती है। स्त्री की ओर से मैं सोचती हूँ, ऐसा दु:ख पुरुष को नहीं मिलता, यह आप मानते हैं कि नही?

उत्तर—मान सकता हूँ। प्रेम जो स्त्री का सर्वस्व है, पुरुष के लिए उतना ही संग्रहणीय नही है। पुरुष को लेकर स्त्री मे विरह रह सकता है। कारण, स्त्री का वास्तव प्रेम-प्राप्ति से आरम्भ होता है, पुरुष का प्राप्ति पर समाप्त होता है। पुरुष को अपने लिए स्त्री को प्राप्त करना नहीं है, बल्कि स्त्री के पक्ष मे अपने-आपको प्राप्त होने देना है। इस रूप में मिली हुई विरह-वेदना स्त्री के लिए भगवान् का ही प्रसाद है, यह क्यों न कहा जाय? स्त्री की यातना मुख्यतया इसमे से उपजती है कि वह पुरुष को अपने निकट रोक रखना चाहती है। क्या मैं न मानूँ कि यह उसके अपने वश का काम है कि वह पुरुष से सन्तति ले ले और फिर उसपर से अपना दावा छोड दे। इस अपने वश की बात में भी जब वह विवश बन जाती है, तो यह उसके दुःख का ही कारण होता है।

प्रश्न—यह तो स्त्री से बहुत जबर्दस्त माँग होगी। जो स्त्री पुरुष के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर दे, उसके लिए पुरुष से भी कुछ आशा करना स्वाभाविक ही है। पुरुष से बिल्कुल अवज्ञा

प्राप्त होने पर भला उसका मन टूटे बिना कैसे रह सकता है? इसलिए क्या यह अच्छा न हो कि पुरुष अपनी प्रकृति में तनिक अधिक संयम लाने की चेष्टा करे?

उत्तर—संयम लाने की चेष्टा में से भी पुरुष का मुख स्त्री सदा के लिए अपनी ओर कर सकती है, यह सम्भव नहीं है। यदि, और जब, यह सम्भव बनता है, तब स्त्री की निराशा का ठिकाना नहीं रहता। स्त्रैण पुरुष को स्त्री चाह नहीं पाती। यह तो ठीक है कि स्त्री के प्रति मन में अवज्ञा होने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु स्त्री यह अनुभव किए बिना रह नहीं सकती कि कुछ है, जो पुरुष को कहीं और खींचता ही रहता है। वह 'कुछ' स्त्री की पकड़ में नहीं आ पाता। इस दुर्विजेय आकर्षण को जिसे पुरुष पूरी तरह स्वयं नहीं समझ पाता, फिर भी जिसमें उसे खिंचना ही पड़ता है— इसी में स्त्री यदि अपने लिए अभियोग बना बैठे, तो इसका कुछ इलाज नहीं है। स्त्री पुरुष के प्रति और अपने प्रति भी यदि न्याय करना चाहती है, तो अपनी ओर से उसे पुरुष को उस अज्ञात पुकार को सुनने और उधर बढ़ते जाने में मदद ही पहुँचानी होगी। ऐसा करेगी, तो पुरुष की वह प्रेरणा बन रहेगी। नहीं तो पुरुष उसे अपने पैरों की बेड़ी समझ सकता है। मैं तो स्त्री का दायित्व मानता हूँ कि वह पुरुष के इस प्रकार पीछे रहे कि पुरुष वापस न हो पाए, जब वह पीठ की तरफ लौटना चाहे, तो स्त्री बाधा बनकर उसे अपने में रोक ले, अपने से पार न जाने दे। यह काम निश्चय ही वह अनुगता होकर कर सकती है। 'अनुगत' शब्द में अपमान देखने की आवश्यकता नहीं है। पुरुष को पौरुष का तकाजा है कि खतरा लेकर आगे वह बढ़े। खतरे में बढ़ने को मूर्खता भी कहा जा सकता है, यदि यह मूर्खता स्त्री के भाग में नहीं आई है, तो स्त्री बल्कि उसके लिए पुरुष की कृतज्ञ हो सकती है।

प्रश्न—पुरुष के खतरे में बढ़ने से आपका तात्पर्य क्या है?

स्त्री की प्रकृति से यदि ऐसा नहीं है, तो ठीक है—इनके लिए पुरुष के सिर पर कृतज्ञता का सेहरा क्यों बँधे ?

उत्तर—कृतज्ञता जिसमे है, सेहरा तो उसी के पास समझना चाहिए। जिसके प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन है, वह तो उपचार के रूप मे गौण ही रह जाता है। फिर भी स्त्री कृतज्ञ क्यों बने, यह सवाल रह जाता हो, तो मैं समझता हूँ कि उसे छूट है कि वह कृतज्ञ न बने। लेकिन उस छूट का लाभ स्त्री शायद ही कभी ले पाती हो।

पुरुष के खतरे मे आगे बढने का क्या मतलब, यह पूछती हो, तो इसी मकान को लो, जहाँ हम बैठे है। यहाँ बिजली की रोशनी है, पंखा है, पक्का मकान है, सीमेंट है, किताबें हैं, फर्नीचर है, इत्यादि। अब पाने चलो कि यह सब कैसे बनने मे आया, तो जान पड़ेगा कि इसमे से प्रत्येक प्राप्ति के लिए भारी खतरा उठाना पडा होगा। कभी यहाँ वीरान जगल होगा और सब तरह का सकट होगा। जगली जानवरो की मुठभेड का खतरा लेकर आगे बढकर पेड गिराने पडे होगे और ज़बरदस्ती घास-फूस से झोपडी बनाकर वहाँ बसना पड़ा होगा। इसमे पहला कदम पुरुष ने न लिया हो, यह नामुमकिन है। इस पहले कदम के लिए पीछे आने वाले दूसरे कदम को कृतज्ञ होना आवश्यक न हो, यह हो सकता है; फिर भी दूसरे की स्थिति पहले के बिना बन नहीं सकती। लेकिन सच कहो कि पुरुष के सामने होकर कृतज्ञता को कितना भी तुम लोग अनावश्यक बना दो, उसके पीछे अकेले मे भी क्या वैसी अनावश्यकता का भाव मन में रहता है? प्रकृति की ओर से मुझे तो वह सम्भव नही जान पड़ता।

प्रश्न—स्त्री को कष्ट तो पुरुष के, उसके प्रेम को अमान्य कर, इधर-उधर भटकने से होता है। इसलिए मेरा यह पूछना है कि ऐसे भटकने के लिए भला स्त्री कैसे कृतज्ञ हो सकती है? बहुधा पुरुष एक अबोध बालिका को आकर्षण-जाल मे फँसा कर विवाह-

संस्कार द्वारा अपनाने से पहले ही छोड कर चला जाता है। इस प्रकार का त्रास देने के लिए स्त्री कृतज्ञ कैसे हो ?

उत्तर—कृतज्ञ कैसे हो, यह तो मैं नहीं बता सकता। लेकिन ऐसा हो सका है, इसके उदाहरण मिल जाते है। स्टीफेन ज्वाइग की एक पुस्तक है, उसमे स्त्री एक ऐसे ही पुरुष को, जिससे प्रेम क्षण-भर का मिला और कष्ट जीवन-भर मिला, मरते समय अपनी गम्भीर कृतज्ञता का पत्र भेजती है। उसमे गहरे विषाद का स्वर भी है, पर अन्त मे है वह कृतज्ञता ही। मैं इस प्रतीति से किसी तरह छुट्टी नही ले पाता हूँ कि कष्ट के लिए भी कृतज्ञ हुआ जा सकता है। सन्तो और भक्तो की परम्परा हर देश और हर काल मे से अटूट चली आई देखी जा सकती है। जीवन-भर उन्हे कष्ट ही मिले है, पर हर नये कष्ट को भगवान् की ओर से नये वरदान के रूप में ही उन्होने प्रसन्न कृतार्थता से लिया है। यह शक्ति पुरुष के पास है और स्त्री के पास नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। शायद स्त्री के पास वह और भी प्रकृत भाव मे है। पुरुष मे तो बल का मद भी देखा जा सकता है, जो त्रास देकर तुष्ट हो। स्त्री के पास उस मद का परिग्रह कम है। यो देखें तो स्त्री मे त्याग की शक्ति अधिक ही मानी जा सकती है।

जो पुरुष भटकता है, कहीं भी एक के पास रुक नहीं पाता, उसकी अतृप्ति की व्यथा तो देखो। क्या वह स्वय जल नहीं रहा है ? उस जलन के प्रकाश मे उसकी बेवफाई पर गुस्से से ज्यादा तरस आ सकता है। इसीलिए अधिकाश उदाहरणों मे पाओगी कि जिसने केवल सहा है, ऊपर से अतिरिक्त अपने लिए कुछ नही चाहा, ऐसी स्त्री पुरुष की कामनाओ का केन्द्र बनी रही है। पुरुष अपनी सारी भटकन मे अन्दर-ही-अन्दर उस केन्द्र से अपने को कुछ देर के लिए भी तोड़ नहीं सका है। मन के भेदो मे उतरने पर जान पडता है कि जो जैसा दीखता है वैसा नहीं भी है। यानी कष्ट देना किसी को इष्ट नहीं है, जो इस प्रकार कष्टकर व्यवहार करता है वह किसी

गृहरी बेवसी के कारण। वह व्यवहार उचित है, कहने का यह मतलब नहीं। आशय इतना ही है कि उस व्यवहार पर भी क्षमा और करुणा की वृत्ति सम्भव है, स्नेह भी सम्भव है और वही उचित भी है। पाप से पापी को दूर करने का रास्ता तब तक नहीं निकल सकता जब तक पाप को पापी से अलग करके देखने की क्षमता पैदा नहीं होगी। अलग देख लेने पर पापी के प्रति अनुकम्पा ही शेष रह जायगी। तब जान पड़ेगा कि पाप को, फिर चाहे वह बाहर पापी में दीखता हो, हमें अपने भीतर से उखाड़ना है। क्या ऐसे उदाहरण नहीं हैं जहाँ दुष्ट साधु हो गए हैं? यदि हम समझें कि वे साधु कैसे हो पाए, तो देखेंगे कि दुष्टता का हरण करके उनमें साधुता का उदय करने वाली कोई ऐसी श्रद्धा थी, कहीं से उन्हें मिल आने वाली ऐसी प्रीति और सद्भावना थी, जो सब-कुछ देख-जानकर भी उन्हें छोड़ नहीं सकी थी, वरन् सहानुभूति में उन्हें अपनाए ही रही थी। मैं उसी श्रद्धा का कायल हूँ। अर्थात् दुष्ट भी पति होकर सती पत्नी के लिए देवता हो सकता है, यह बात कितनी भी अटपटी लगे, पर आन्तरिक क्रान्ति का विज्ञान इस सत्यता के सिवा कहीं दूसरी जगह नहीं हो सकता।

प्रश्न—पुरुष के भीतर की वह क्या विवशता है जो उससे यह कृतघ्नता करवाती है, क्या इसका विश्लेषण आप कर सकेंगे?

उत्तर—नहीं, पूरे तौर पर नहीं कर सकूँगा। लेकिन व्यक्ति पर दृष्टि समाप्त नहीं है। अर्थात् पत्नी से बाहर भी कुछ है। पुरुष उस शेष की ओर से, अखिल की ओर से, एक अनिवार्य चुनौती अनुभव करता है। अज्ञात है तो उसे वह जानेगा, पकड़ में नहीं आता है, इसीसे उसे पकड़ेगा। इसी में से पुरुष की बहुत-सी मूर्खताएँ निकलती हैं। हिमालय की चोटी पर वह न चढ़े, तो उसका क्या बिगड़ जाता है? लेकिन नहीं, हिमालय से उसे चुनौती मिलती है। इसीसे चाहे कितनी ही बार मरना पड़े, हिमालय पर हर हालत में चढ़कर ही छोड़ना होगा। कोलम्बस क्यों चल दिया? अल-

चेन्द्र क्यों घर छोड भागा-भागा फिरा, कि जवानी आते-आते राह में ढेर होकर मर जाय ! क्राइस्ट, मुहम्मद, बुद्ध क्या खोजने और क्या पाने निकले कि कभी न टूट सके और कुछ अपने पास न ले सके ? वह सत्य की शोध नाम की चीज क्या थी, जिससे गाधी नगा होकर रहा और गोली खाकर मर गया ? मैं स्वयं उस चीज को ठीक तरह हृदयगम नहीं कर पाता हूँ। पर कुछ है जिसकी सीधी पुकार पुरुप को मिलती है। पर पूरी तौर पर भाषा मे उसे समझना नहीं हो पाता। यो यश, कीर्ति, पराक्रम, राज्य, साम्राज्य, सत्य, हक आदि-आदि जाने कितने शब्द हमारे पास है वह जतलाने के लिए कि जिसके पीछे आदमी चलता रहा और मरता रहा है। मेरा मानना है कि स्त्री के पास वह लाचारी कम है। उसको अपने मे से पुत्र पालेने की सुविधा है। पुरुष के पास वह सुभीता नहीं है। इसलिए वह अपने शरीर से तरह-तरह की अशरीरी सृष्टि करने मे लगा रहता है और किसी भी कीमत पर उसे इससे विमुख नहीं किया जा सकता।

प्रश्न—पर मैं तो पुरुप की उस प्रकृति की ओर लक्ष्य कर रही हूँ, जो किसी और बड़ी भावना से नहीं, वल्कि सुख-लिप्सा से भ्रमते है—अधिकतर अपनी गृहणी के प्रेम को तिलांजलि देकर दूसरी स्त्रियों की ओर। इस लोलुपता की हिमायत आप कैसे करेगे ?

उत्तर—हिमायत मैं नहीं करता हूँ, लेकिन लोलुपता कह कर भी मैं अपने को छुट्टी नहीं दे पाता हूँ। पत्नी रूपवती है, शिक्षिता है, हर तरह स्पृहणीय है, फिर भी पुरुप वहाँ जाता है जहाँ रूप भी नहीं है, दूसरा भी कुछ अभ्यर्थनीय नहीं है। जाता है, पामाल होता है। लेकिन फिर जाता है। जानता है कि वह भ्रम है, फिर भी भ्रम को पोसता है। मैं यही तो कहता हूँ कि अपने मन मे से निकालकर किसी आदर्श को अथवा किसी भ्रम को ही अपने से बडा बनाए बिना, और उसकी तरफ खिंचे बिना, वह नहीं

रह सकता। लोलुप कहकर मै छुट्टी कैसे पा लूँ ? कारण, जो राष्ट्र के नाम पर कुर्बान हो जाता है, सिर हाथ पर लेकर देश की लडाई लड़ने जाता है, कुल की मान-मर्यादा के नाम पर जान लेता और जान दे देता है—क्या वह सब भी एक प्रकार की लोलुपता ही नहीं है ? एक जगह वह अच्छी लगती है, दूसरी जगह वह बुरी लगती है, यह तो मैं समझ सकता हूँ। उनमे विवेक करना चाहिए, यह भी समझ सकता हूँ। लेकिन दोनो जगह जो यह एक तत्व समान है कि वह अपने लिए अपनी आकांक्षा के जोर से कुछ आकांक्षणीय पैदा करके स्वयं अपने को उस पर होम रहने को लाचार है—इस समानता को देखने से मैं कैसे इन्कार कर सकता हूँ ? पुरुष का पुरुषत्व मैं इसी मे देखता हूँ। वह पुरुषत्व मोरी मे लुढ़कता भी दीखता है और आदर्श की सानपर चढकर अद्भुत पराक्रम दिखाता भी दीखता है, यह सच है। दोनो जगह हमे उसे पहचानना है। यह नहीं कि एक जगह की गर्हणा को मैं गर्हणीय ठहराने में डरता हूँ। लेकिन पर्याय के भेद से असल तत्व मे भेद मैं नहीं मानना चाहता।

प्रश्न—कारण चाहे कुछ भी हो, स्त्री के सामने तो पुरुष की ऐसी वृत्ति लोलुपता के रूप मे ही आती है। इस लोलुपता के पीछे विवशता केवल अपने सुख की चाह की प्रतीत होती है। ऐसी विवशता को नारी कैसे समझे ? कैसे पुरुष से सहानुभूति करे और कैसे कृतज्ञ अनुभव करे ?

उत्तर—हाँ, समझने मे कठिनाई अवश्य है। कठिनाई और भी बढ़ जाती है, जब कि यदि एक ओर पुरुष अपना सुख चाहता दीखता है तब स्त्री भी अपने ही सुख के बिन्दु से उस पर विचार करती है। स्त्री-पुरुष के बीच का भोग-सम्बन्ध कुछ वही अवस्था है, जहाँ दोनो एक-दूसरे से अपनी अपनी तृप्ति चाहते है और छीनते-नोचते है। वह सम्बन्ध जहाँ है और जितना है, वहाँ उतनी ही गलतफहमी के लिए गुंजाइश है। ऐन्द्रियिकता

के माध्यम से कभी किसी को ठीक तरह नहीं समझा जा सकता है। परस्परोपलब्धि में शरीर और इन्द्रियाँ बाधा बनती हैं। ठीक समझने के लिए निस्संग वृत्ति चाहिए। मैं यह मानता हूँ कि पुरुष की लोलुपता में भी उसके प्रति सहानुभूति रखी जा सकती है। वह सहानुभूति स्त्री कैसे अपने में ला सकती और रख सकती है, यह प्रश्न हो, तो इसका उत्तर होगा कि उस पुरुष से अपने सम्बन्ध में किसी प्रकार की भी अपेक्षा रखना बन्द करके। यह जो एक प्रकार का निस्संग और इन्द्रियातीत और आत्मिक सम्बन्ध है, वही दुष्ट पर से दुष्टता का आवरण उतार कर उसे प्रकृत मानव-रूप में जगा देने में समर्थ हो सकता है।

प्रश्न—कहने को ऐसी बातें कही जा सकती हैं, किन्तु हैं ये असम्भवता की कोटि की। पुरुष स्वयं ही किसी कन्या पर रीझता है और बड़े-बड़े आश्वासन देता और आकांक्षाएँ जगाता है। और जब कन्या उसका प्रतिदान देने लगती है, तब उसे बिना अपनाये ही छोड़ बैठता है—जिस पुरुष में कन्या ने अपने सर्वस्व का रूप देखा था—उसके इस आघात को भला वह कैसे सहन करे?

उत्तर—मान लो, नहीं सहन करती और हम भी यह नहीं कहते कि उसे सहन करना चाहिए, तो बताओ कोई दूसरा उपाय निकलता है? मान लो, हम कानून बना देते हैं कि जहाँ शरीर-सम्बन्ध प्रमाणित होगा वहाँ जबरन विवाह करना ही होगा। अव्वल तो ऐसे कानून बनने में बाधाएँ हैं। यह कहना भी गलत न होगा कि अनेक उदाहरणों में जो दो व्यक्ति एक-दूसरे को प्रेम के नाते चाहते हैं, विवाह के बन्धन के नाते वे ही एक दूसरे को अपनाने को तैयार नहीं हैं। स्वयं स्त्री-जाति की ओर से तुम या कोई यह नहीं कह सकता कि उसकी वासना और समझदारी में भेद नहीं है। समझदारी के लिहाज से विवाह वे एक जगह चाह सकती हैं, फिर चाहे आकर्षण दूसरी ओर का भी हो। लेकिन मान लो कि समाज की और सरकार की

ओर से नियम हो गया कि बेवफाई न हो सकेगी। तो क्या समझती हो कि उस नियम से प्रीति और प्रामाणिकता पैदा हो जायगी? अगर नियम-कानून से वह चीज़ पैदा नहीं हो सकती, तो प्रेम-हीन सग-निर्वाह मे क्या 'सहना' हर घडी और हर दिन का ही काम न हो जायगा? जबरदस्ती बॉधकर किन्हीं दो को भी रखा नहीं जा सकता। रख भी सकें, तो यह शर्त पूरी नहीं हो सकती कि किसी की सहिष्णुता पर दबाव नहीं आयगा। अर्थात् सहना तो एक ऐसा धर्म है, जिससे किसी भी हालत मे छुटकारा नहीं है। अब यह मानना भूल-भरा होगा कि सहना स्त्री को ही पडता है। अवश्य स्त्री को अपने ढग से सहना पडता है, और आज की अर्थ-व्यवस्था मे वह ज़्यादह दूभर जान पडता है। पुरुष दाता और कर्ता दीखता है, स्त्री उसके मुकाबले मे असहाय दीखती है। इस दृष्टि से स्त्री के अधिकार कुछ अधिक भी समझ लिए जायँ तो मुझे आपत्ति नही होगी। लेकिन सामाजिक रूप से वे अधिकार कितने भी हों, सहने के धर्म से वे किसी को छुट्टी नहीं दिला सकते। अधिकार ऊपरी बात है, सुख-दुख से उसका सम्बन्ध नहीं है। दुख की परिस्थिति में भी स्वेच्छा से सहन करने के धर्म में से सुख खीचा जा सकता है। तुम्हारे दिए उदाहरण मे मैं नहीं देखता कि इस प्रकार पुरुष द्वारा ठगी गई कन्या उस पुरुष के प्रति दावेदार बनी रहकर जीवन में किंचित् भी सुख-शान्ति अपने लिए जुटा सकेगी—फिर चाहे वह दावा कितनी ही दूर तक हठात् उस पुरुष द्वारा पूरा कराया जावे। नारी के मन की क्षति स्वयं मन मे से ही पूरी होगी। वही उपाय है, दूसरा नहीं है।

अब पुरुष की ओर से विचार करे। लगता होगा कि कन्या को मुसीबत में डालकर वह आप मौज से रह रहा है। लेकिन मैं ऐसा मान नहीं सकता। ऊपर की ऑखे हमे धोखा भी दे जाती हैं। सामाजिकता ही सब-कुछ नहीं है। आत्मिकता को वह दबा नहीं सकती। ऐसे प्रवंचक पुरुष समाज-मान्य हो सकते हैं, अर्थ-काम की ओर से सफल भी दीख सकते हैं।

लेकिन उतने से धोखे मे आने की आवश्यकता नहीं है। सामाजिक मान्यता और द्रव्यादि की सफलता उन्हे किसी तरह सुख दे सकती है, यह मुझसे माना नही जाता है। दण्ड हमारे देने से ही किसी को मिलता है, यह मानने की आवश्यकता नही है। कर्म के फल से बचना सम्भव ही नहीं है। कारण, फल कर्म से अलग नही है, वह क्रिया के साथ है। इससे फल अमोघ और अनिवार्य है। इस अमोघता को समझेंगे तो स्त्री की ओर से यह मॉग कि पुरुष को कुकर्म के फल के रूप मे दण्ड दिया ही जाय, उतनी अनिवार्य हमे नही दीखेगी। यह नही कि इस तरह क्षमा का उपदेश देकर सामाजिक दायित्व की अवहेलना की मै सलाह देता हूँ। लेकिन स्त्री को सदा शिकायत करने वाले की जगह पर देखकर मुझे सुख नहीं होता है, दु:ख होता है। स्त्री अपना भाग्य बिगाडने या बनाने वाली क्या स्वय नहीं हो सकती कि हमे कहना पड़े कि पुरुष ने उसे बिगाड दिया? इस प्रकार की भाषा स्त्री के लिए मुझे अशोभनीय और अपमानजनक जान पड़ती है।

प्रश्न—मेरा तात्पर्य स्त्री की ओर से अधिकार मॉगने का या पुरुष के लिए दण्ड-विधान करने का न था। मैं तो उसकी कठिनाई बता रही थी कि जिस ओर से उस पर इतनी भयानक चोट पड़ती है उसके प्रति रोष-भाव ही स्वाभाविक होगा, सहानुभूति असम्भव होगी। फिर यह भी बहुधा देखा जाता है कि पुरुष एक नारी के प्रेम की प्राप्ति तक ही अपना प्रयोजन रखता है—प्राप्त होते ही छोड़कर दूसरे के आकर्षण-जाल मे उलझता है। नारी देखती है कि अन्यत्र सुख प्राप्त करने के स्वार्थ को लेकर पुरुष गया है, तब वह ऐसे पुरुष के प्रति कैसे श्रद्धा करे? नारी मे मैं उस विवशता का भी विश्लेषण चाहती हूँ, जिसके कारण वह पुरुष से ठुकराये जाने पर भी अन्यत्र सुख खोजने के लिए अपने को समर्थ नहीं पाती। बहुधा उसका जीवन एक के प्रेम के साथ ही समाप्त-

प्राय-सा हो जाता है।

उत्तर—हाँ, स्त्री और पुरुष में इस जगह कुछ अन्तर है अवश्य। स्त्री का प्रेम प्राप्ति से आरम्भ होता है, पुरुष का वहाँ समाप्त होता है। यह बात शायद पहले भी कही जा चुकी है। लेकिन यह भी कहा है कि स्त्री-पुरुष व्यक्तित्व की ओर से सर्वथा भिन्न नहीं हैं और यह कि शुद्ध स्त्री और शुद्ध पुरुष मिलना दुर्लभ है। यानी स्त्रियाँ मिल सकती है जो अस्थिरता मे पुरुष से बढ़-कर आगे निकल जाने को तैयार हो, और पुरुष है जो एक के होकर और उसे खोकर फिर उसी के नाम पर जीवन-भर रोते रह गए हैं। इन अपवादो के रहते भी कहना होगा कि स्त्री को प्रेम की सफलता मे से कर्तृत्व मिलता है, जबकि पुरुष का कर्तृत्व उस सफलता पर समाप्त होता है। मुझे तो यही दीखता है कि इस अन्तर से झगडना नही हो सकता, उसे तो स्वीकार ही करना होगा। गर्भ स्त्री को धारना होता है, पुरुष के लिए वह झंझट नहीं है। गर्भ धारने का आशय है कि अन्तस्थ एक ऐसा केन्द्र प्राप्त होना, जहाँ स्त्री का सम्पूर्ण भाव और रस एकीकृत हो सके। गर्भावस्था मे इन्द्रियो की चञ्च-लता हठात् नारी मे कम हो जाती है। बहिर्मुखता क्षीण पड़ने लगती है। स्त्री की गर्भावस्था मे सामान्यतया पुरुष उससे विमुख ही होता है, उसकी ओर लौटता है तो बुद्धि और विवेक के जोर से। गर्भिणी पत्नी को पति चाहता है तो सहानुभूति के द्वारा। इन्द्रियो की चाह तो मानो उसे उस ओर से उल्टे ही ले जाना चाहती है। नर-नारी का यह भेद जिस विधान की ओर से है, उसको तो मान्य ही करना होता है। उसके और अधिक विश्लेषण मे शायद नही जाया जा सकता।

प्रश्न—इस तरह तो स्त्री ही बहुत अधिक यातनाओं की भागी हुई, कि पुरुष का प्रेम ठीक ऐसे मौके पर समाप्त हो जाय जबकि नारी उस प्रेम मे रमना चाहे? यही मैं आपसे स्वीकार करवाना चाहती हूँ। आप पुरुष से सहानुभूति की ओर जोर देते जा रहे

है, पर वास्तविक सहानुभूति की अधिकारिणी जितना विश्लेषण मे उतरते है नारी ही नजर आती है। इतना आग्रह करने का मेरा तात्पर्य नारी की ओर की कोई हिमायत करना नहीं है। मैं नारी की प्राकृतिक विवशता के इस तथ्य को लेकर उसकी मूल-प्रकृति का विश्लेषण चाहती हूँ।

उत्तर—सहानुभूति प्रकृत तत्त्व है। वह तो इस तरह अनिवार्य ही है। लेकिन व्यक्ति अपने ही मूल-भाव के साथ युक्त नहीं होता, वह विभक्त रहता है। विभक्त जबकि रहता है, तब युक्त होने की चेष्टा मे भी रहता है। इस तरह भोग और योग, स्वार्थ और सहानुभूति, इन दोनो तत्त्वो के तनाव मे टकराते हुए उसे चलना पडता है। स्वार्थ उत्कट होता है तब सहानुभूति उतनी ही क्षीण पड़ती है। परिणाम यह है कि सहानुभूति सदा ही दी जा सकती है, हठात् उसे लेने की माँग नही की जा सकती। सहानुभूति लेने की कामना और आग्रह के जवाब मे दूसरी ओर से वह अड़ती ही है, उमगती नहीं है। मूलतः पुरुष का यह वश नहीं है कि स्त्री के प्रति सहानुभूति से हीन हो रहे। स्त्री की निर्बलता (दूसरे शब्दो मे कोमलता) पुरुष के मन मे बहुत बडे आकर्षण का कारण होती है। फिर भी यदि पुरुष की ओर से वह सहानुभूति नहीं आती है, तो यह समझकर कि पुरुष इस प्रकार अपने भीतर अपने को ही इन्कार कर रहा है यदि स्त्री अपनी ओर से जाने वाले सहानुभूति के प्रवाह को न रोके तो इससे पुरुष का और स्वय उसका भला ही होगा यह निस्सशय है। जैसा पहले कहा गया है, खतरा आगे बढकर सदा पुरुष को ही लेना होगा। इस अधिकार को वह छोड नहीं सकता। इनमे स्वय स्त्री के प्रति सहानुभूति गर्भित देखी जा सकती है। स्त्री पहले सहानुभूति की अधिकारिणी है, यह पुरुष का मन अनायास ही जानता है। मुझसे पूछो तो मै बड़ी खुशी से इसमे सहमत होने को तैयार हूँ। लेकिन फिर भी मै यह कहूँगा कि स्त्री अगर यह जानती है, तो गलत जानती है। सहानुभूति देने मे

ही अपने भी प्रति मिल सकती है। पुरुष के लिए और स्त्री के लिए भी यही नियम है। सहानुभूति की माँग सहानुभूति के दान को बल्कि असम्भव बना सकती है। इसलिए यह क्षेत्र ऐसा है जहाँ विनिमय का नियम उल्टा काम करता है। जो सब देता है, वही सब पाता है। पाने के ध्यान से देना यहाँ देना ही नहीं है। देना जहाँ बेशर्त है और ऐसा होकर ही कृतार्थ है, वहाँ किस नियम से अपने-आप सब-कुछ मिल जाता है—इसको मानव-बुद्धि से पूरी तरह समझा नहीं जा सकता। मनुष्य का नहीं, वह ईश्वर का नियम है। इसलिए वह एकदम दुर्निवार्य और निरपवाद है। स्त्री उसमें विश्वास रखकर निश्शंक और निरापद हो जा सकती है। तब उसे पुरुष से कुछ पाना नहीं रह जाता, क्योंकि अपने अन्तर्यामी भगवान् से वह सब-कुछ पाने का मार्ग पा जाती है।

प्रेम की स्वतन्त्रता और समाज की स्थिरता

प्रश्न—शरच्चन्द्र के पात्र प्रेम मे जैसी सामाजिक स्वच्छन्दता लेते दीखते है, उसे आप कहाँ तक उचित समझते है ?

उत्तर—सामाजिक मर्यादा सत्य की साधना की राह मे आप ही बनती है। आशय कि समाज-मर्यादा स्वय स्थिर नहीं है, विकासशील है। सदाचार मे आचार पीछे है, सत् पहले है। सत् के अनुसधान मे आचार को आगे बढते ही जाना है। इस तरह रूढ सदाचार और सजीव सदाचार मे मे हर काल मे कुछ अन्तर देखा जा सकता है। सतजन आरम्भ मे अपने जीवन मे विद्रोही समझे गए हैं। धार्मिक को धर्मज्ञ का विरोध सहना पडा है। शरच्चन्द्र के पात्र भी यदि समाज-मर्यादा के प्रति स्वच्छन्द दीखते है, तो ऐसा उच्छृखलता के कारण नहीं, प्रत्युत सहानुभूति की सघनता के कारण है। इसलिए सदाचार की वहाँ क्षति नही है, उल्टे कुछ समृद्धि ही देखी जा सकती है।

प्रश्न—'चरित्रहीन' मे किरणमयी की वृत्तियाँ उच्छृङ्खल ही तो दीखती है। उच्छृङ्खलता और सहानुभूति-प्रभूत स्वतन्त्रता मे आप क्या अन्तर मानते है ?

उत्तर—किरणमयी के चरित को लेखक स्वय अपनी ओर से समर्थन नहीं दे रहा है, क्या यह भी उस पुस्तक मे प्रकट नहीं हो जाता ? किरण के व्यक्तित्व मे जो प्रखरता है, लेखक को वह कहीं भी स्पृहणीय नहीं जान पडती। अन्त तक किरणमयी को बेचैनी ही भोगनी पड़ी है, शान्ति उसे

नहीं मिल पाई है। समाप्ति की ओर तो साफ मालूम होता है कि उसकी तमाम स्पर्द्धा पराजित और कुण्ठित होकर रह गई है। किरणमयी पाठक के मन मे अपने लिए दर्द पैदा कर पाती है, सराहना नहीं। इसलिए किरणमयी की बात से तो तुम्हारा आशय स्पष्ट होता नही दीखता। यदि कोई पात्र पाठक को स्वय अश्लाघ्य लगे, तो फिर यह कहने मे कोई अर्थ नही रहता कि यह पात्र उच्छृखल या अनिष्ट व्यवहार क्यों करता है। लेकिन मैं मानता हूँ कि शरच्चन्द्र की रचनाओ मे से वे पात्र भी ढूँढे जा सकते हैं जो समाज-मर्यादा की रक्षा नहीं करते; फिर भी अश्लाघ्य नही, वरन् श्लाघ्य-से दीखते है। उनकी बात कहो, तो शायद प्रश्न का कुछ रूप बने भी।

प्रश्न—सामाजिक स्वतन्त्रता लेते हुए प्रेम का श्लाघनीय रूप आप कैसा मानते है?

उत्तर—किसी श्लाघनीय प्रेम की बात तुम्हीं बताओ, जिसमे स्वतन्त्रता बिल्कुल न ली गई हो?

प्रश्न—हॉ, सीता का नाम मैं ले सकती हूँ। उनके राम के प्रति ज्वलंत प्रेम से सामाजिक स्वतन्त्रता बिल्कुल नहीं ली गई।

उत्तर—आज के हिसाब से सीता जी को देखो, तो क्या यह प्रश्न उठता नही जान पडेगा कि वे जीते-जी लंका कैसे पहुँच गईं, रास्ते मे ही उपद्रव मचाकर स्वय मर क्यो न गई? लका मे फिर वे थोडे काल तो नही रहीं। एक वह भी तो प्रेम हो सकता था, जो ऐसे पातकी के यहॉ जीने से इन्कार करके पति के नाम पर आत्महत्या करने की सलाह दिये बिना न रहता। वह पातिव्रत्य की दृष्टि से ऊँचा होता कि नहीं, तुम्ही सोचो। इस प्रकार की धारणा रखने वाले लोग थे, तभी तो सीता जी को अग्नि-परीक्षा और फिर वनवास भोगना पडा। फिर भी सीता जी का उदाहरण तो मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के साथ का है। उस कथा मे मर्यादा-पालन की प्रतिष्ठा है। किन्तु मर्यादा की सब प्रकार रक्षा होते हुए भी यह मेरे निकट निश्चित है कि सीता जी के मन

मे रावण के लिए उतनी घृणा नहीं थी, जितना विषाद था। अशोक वाटिका मे रावण नही आते होगे, सो नहीं, लेकिन सीताजी के शील मे इतना गाम्भीर्य था कि रावण की ओर से उन्हे सकट अनुभव करने की आवश्यकता नही रह जाती होगी। यह श्लाघनीयता किसी समाज-मर्यादा के ध्यान में से सीताजी को नहीं प्राप्त हुई, वह विशुद्ध प्रेम की सघनता मे से ही उन्हे सिद्ध हुई हो सकती है। महान् प्रेम स्वय मर्यादा बनाता है, मर्यादा में घिरने की उसे जरूरत नही रहती। सीताजी के उदाहरण से वह बात उतनी साफ नही होती, तो राधा का उदाहरण है। उस राधा के प्रेम को क्या कहोगी? उसे अशरीरी और अपार्थिव कहकर तो बात टल जाती है। तब तो वह सब वृतान्त अलौकिक के अवतरण के लिए रूपक-भर रह जाता है। तब उसमे प्रेरणा भी नही रह जानी चाहिए। किन्तु युग-युग से यदि राधा के नाम मे या प्रेम मे अजस्र प्रेरणा रहती चली आई है, तो वह प्रेम अपार्थिव नही, बल्कि समग्र रूप से प्राणवत ही रहा होगा। तुम्हीं बताओ कि उसमे समाज-मर्यादा कहीं राई-रत्ती भी रखी गई दीखती है? किन्तु प्रेम मे स्पर्द्धापूर्वक कुछ भी तोडा नही जाता है, वहॉ सब कुछ गलकर आप ही राह दे देता है।

प्रश्न—राधा के अपने पति को छोडकर पर-पुरुष कृष्ण मे लीन होने की क्या आप सराहना करते है?

उत्तर—क्या तुम सराहना नहीं करती? या कौन है, जो सराहना नहीं करता? भारत मे तो शायद ऐसा व्यक्ति न होगा।

प्रश्न—सामाजिक दृष्टि से तो यह अवहेलनीय ही है। राधा के उदाहरण से यदि सब स्त्रियॉ अपने पतियो को छोड़ दूसरो मे अनुरक्ति रखने लगे, तो?

उत्तर—तो यही न कि सब राधा बन जायॅ? राधा बनने से पहले तो उनकी प्रशंसा करना कठिन होगा। और राधा बनने के लिए उन्हे अपने को

इतना खोना होगा कि यह भी उन्हे पता न रहे कि पति-प्रेम उनके प्रेम से कुछ अन्यथा वस्तु है। इसलिए राधा को महान् मान देकर भी भारतीय संस्कृति पति-द्रोह को उकसाने या बढानेवाली नहीं कही जा सकती। प्रेम को स्वतन्त्र प्रतिष्ठा दी जा सकती है, और वह समाज-मर्यादा से उत्तीर्ण भी देखा जा सकता है। लेकिन इससे समाज-मर्यादा का स्थान नियत होता है, समाप्त नही होता।

प्रश्न—राधा का कृष्ण से भोग-सम्बन्ध भी तो था, जिसमे आकांक्षा, अभिलाषा, प्राप्ति सब ही कुछ आ जाता है। तब फिर यह कैसे कहे कि पति-प्रेम और कृष्ण-प्रेम उसके लिए एक हो गया!

उत्तर—वह सम्बन्ध ऐसा था कि सब विशेषण उसमे डूब सकते हैं, कोई भी विशेषण उसे ढँक पाने के लिए बच नही रहता। वह समग्र एवं सम्पूर्ण सम्बन्ध था। इसलिए वह निश्चय ही आत्मिक सम्बन्ध था। कृष्ण किसी तरह भी राधा के लिए पति के विरोधी या प्रतिस्पर्द्धी नही रह गए थे। इसलिए मैं राधा के कृष्ण-प्रेम को हर तरह पूरक और संग्राहक ही मान सकता हूँ, किसी भी तरह विग्राहक नहीं।

प्रश्न—कृष्ण राधा के पति के प्रतिस्पर्द्धी किस प्रकार नहीं थे? स्वभावतः ऐसी अवस्था मे यह तो होता ही है।

उत्तर—सामान्यतः होता हो, स्वभावतः नहीं होता। राधा-कृष्ण के सम्बन्ध मे ऐसा हुआ, यह कहना न्यायोचित न होगा। राधा-कृष्ण सम्बन्ध को असामान्य तो हम कह सकते हैं, अस्वाभाविक कहना ठीक नही है। मैं मानता हूँ कि वैसा सम्बन्ध बीज-रूप मे अब भी मानव-जगत् मे दुष्प्राप्य नहीं है, बल्कि मेरी तो श्रद्धा है कि खोजने पर वह उतना विरल भी न सिद्ध होगा। उस ईर्ष्या और स्पर्द्धाहीन भव्य प्रेम के 'प्रकार' के बारे मे मैं कुछ ज्यादा नहीं कह सकता। मैं मानता हूँ कि प्रेम समग्र होकर इन्द्रियो से स्वतन्त्र या इन्द्रियातीत हो आयगा। फिर वहाँ प्रतिस्पर्द्धा का सवाल ही

क्यों रहना चाहिए? पति-पत्नी सम्बन्ध सामाजिक है, इन्द्रियावलम्बी है। प्रेम भरपूर होते-होते इतना आत्मिक हो जाता है कि अवलम्बन की उसे आवश्यकता नहीं।

प्रश्न—इन्द्रियातीत होकर ही प्रेम सघन हो सकता है, यह आप कैसे मानते है? बहुत-से पाश्चात्य वैज्ञानिकों का कहना है कि इन्द्रिय-सम्बन्ध से ही प्रेम मे घनिष्ठता पैदा होती है। और फिर राधा का कृष्ण के प्रति प्रेम इन्द्रियातीत था, यह तो आपकी अपनी ही व्याख्या है न?

उत्तर—इन्द्रियों को जहाँ वर्जित या वञ्चित रहना पड़ता है, उस अवस्था को मैं इन्द्रियातीत नहीं कहता। वहाँ समग्रता नहीं है, अपूर्णता और एकांगिता है। जहाँ इन्द्रियों को पीछे रखकर चलना होता है, जहाँ अनुभव हो कि इन्द्रियाँ बाधा हैं, वहाँ अतीन्द्रियता प्राप्त है या हो सकती है, ऐसा मैं नहीं मानता। योग वह है, जिसमे इन्द्रियाँ भी योग देती हों। अर्थात् ऐसा कोई आत्मा का मिलन जिसमे शरीर मिलने को भूखा ही रह जाय, सच्चा और सम्पूर्ण मिलन नहीं है। जो सम्पूर्ण नहीं है, वह आत्मिक भी नहीं है। कारण, आत्म सर्वव्याप्त है। ऐसे मिलन का अस्तित्व अवश्य है, और वही आत्मिक है, जहाँ शरीर का दो-पन बाधक नहीं साधक होता है। उस अवस्था मे व्यक्तियों के शरीर अपने दो-पन को मिटा डालने को आतुर होने की आवश्यकता मे नहीं रहते। यह स्थिति अकल्पनीय नहीं है। ऊपर जो कहा उसका मतलब यह नहीं कि तीव्र होने से प्रेम अनायास अतीन्द्रिय बनता है। तीव्र होने के लिए अतीन्द्रियता की शर्त नहीं है। शरीर की भिन्नता को हठात् एक दूसरे मे मिटा डालने की कामना रहती है, तब तक काम है। मिथुन में से तो मैथुन उपजता है। वह न रहे, तो कृतकामता माननी चाहिए। अतीन्द्रिय-प्रेम मे शरीर को और इन्द्रियों को कृतकामता अनुभव होनी चाहिए। उन्हें तब अपनी अलग भूख की प्रतीति ही न रहेगी।

हाँ, व्याख्या यह मेरी है, शायद अतिशय मेरी। राधा का कृष्ण के प्रति जैसा जो प्रेम था, उसके बारे मे आखिर अपने अभिप्राय रखने से आगे हम जा भी कहाँ सकते हैं? उस सम्बन्ध में अपना कुछ अभिमत रखना गलत नही कहा जायगा। यही कह सकते हैं कि मालूम नहीं कि वह अभिप्राय सत्यता को कहाँ तक पाता और व्यक्त करता है। उसी अर्थ मे मेरे अभिप्राय को तुम मनमाना कहना चाहती हो तो तुम्हे छुट्टी है। लेकिन राधा-कृष्ण के संयुक्त नाम को इतनी महिमा और गरिमा यदि मिली कि भारतीय-जैसी सहस्राब्दियो को झेलती हुई एक अनवच्छिन्न सास्कृतिक परम्परा उसको मूर्द्धन्य रखकर ही प्राणवंत रहती चली आई, तो अवश्य उसके मूल में समग्र प्रेम का आधार होना चाहिए। उसकी उपासना ने भारत को अमरता दी है। मैंने उसी रूप मे उस प्रेम को लेने और समझने का प्रयास किया है।

प्रश्न—प्रेम की समग्रता का आप किस अर्थ में प्रयोग करते है?

उत्तर—जिसमे सम्पूर्ण प्राण-चेतना भाग दे और भाग ले, वही समग्र प्रेम है।

प्रश्न—तो फिर शरीर के साथ शरीर-भोग भी आ गया। प्रेम की समग्रता के लिए क्या उसकी भी आवश्यकता है?

उत्तर—भोग शरीर तक रहता है। जिसमे और सब-कुछ भी है, उसे योग कह सकते हैं। भोग यदि अग्राह्य है, तो मेरे निकट इसी अर्थ मे कि वह बहुत आंशिक है। यहाँ तक कि उसे ऋणात्मक मान ले तो अयथार्थ न होगा। योग मे शरीर साथ नहीं देता, यह मानना गलत है। ऐसा हो, तो फिर योग ही नहीं है, वह तो कायिक दमन और अहंकृत क्लेश है।

प्रश्न—भोग को अग्राह्य माना ही क्यों जाय? क्या उससे प्रेम की समग्रता मे बाधा उत्पन्न होती है?

उत्तर—भोग में एक प्रकार का आग्रह विद्यमान रहता है। आग्रह एकांगिता का लक्षण है। ऐसा लगता है कि जैसे भोग में अपना बहुत कुछ पीछे रोक रखा जाता है, और थोड़ा ही कुछ होमा जाता है। भोग में समर्पण सम्पूर्ण होता ही नहीं। इस अनिवार्य आंशिकता के कारण भोग को अधिक महत्त्व देने की रुचि मेरी नहीं होती।

प्रश्न—शरीर के योग को आप प्रेम में आवश्यक समझते हैं, किन्तु भोग के विरोध में हैं, तब प्रेम में शरीर के योग से आपका क्या तात्पर्य है? ऐसा योग सम्भव ही कैसे हो सकता है?

उत्तर—शरीर जब मन के साथ और मन आत्मा के साथ चलता है, तब शरीर में अपने लिए एकान्त भोग का आग्रह नहीं पैदा होता। तब शरीर अपने को भूखा भी अनुभव नहीं कर रहा होता। यह स्थिति हमारी अनुभूति और कल्पना से एकदम बाहर है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। स्थूल जगत में प्रेमी और प्रेमिका भी जब परस्पर विगलित होकर सहानुभूति में आँसू बहा उठते हैं, तब मैं मानता हूँ कि उन दोनों के शरीर भी परम कृतार्थता का अनुभूति-लाभ पाते हैं। भोग में ही तृप्ति मिलती है, ऐसा नहीं है, बल्कि वहाँ शायद अतृप्ति अधिक मिलती है। जब कि ऊपर के आर्द्र मिलन में जैसे एक गम्भीर उपलब्धि शरीर की समस्त शिराओं और स्नायुओं को अनुभव होती है। अर्थात्, मन का साथ देकर शरीर कुछ कम कृतार्थ नहीं होता। इस तरह योग में भोग की माँग की आवश्यकता नहीं रहती। कारण योग स्वयं ही तो सम्पूर्ण भोग है।

प्रश्न—प्रेम की अनुभूति के साथ मन और शरीर भी सामान्यत प्रेम को प्राप्त करना चाहता है। फिर मन के आत्मा के साथ चलने में क्या तात्पर्य रहा?

उत्तर—अधिकतर मन का कुछ ही भाग हमारी समझी जाने वाली इच्छाओं और वासनाओं से जुड़ा रहता है। अधिक भाग तो उनसे पीछे

आत्मा से जुडा कहा जा सकता है। आत्मा शब्द विज्ञान-सम्मत नहीं है, इसलिए उसकी चर्चा नहीं करनी है। आजकल उपचेतन-अवचेतन शब्द चलते हैं। एक कल्पना दैवी मन की भी है। यह सब संज्ञाएँ बताती हैं कि कुछ है, जो चेतन मन से बहुत बडा है और उसके काबू में नहीं है। उस मनश्चेतना के विज्ञान के झमेले मे जाने से यहाँ कोई फायदा नहीं है। श्रद्धा से इतना हम समझ लें कि इधर वासनाओं से जुड़ा मन हमारे व्यक्तित्व का बहुत थोडा ही भाग है। व्यक्तित्व का अधिक और सार भाग तो हमारा वासना से उल्टा है, यानी सहानुभूतिशील है। स्वयं वासना सहानुभूति के आधार पर जी पाती है। मन को हम सहानुभूति मे निष्ठित रखें, तो मन को आत्मा के साथ युक्त रखा कहा जा सकता है। मामूली तौर पर मन का बहुत भाग पीछे की तरफ खिंचा रहता है और कहे जाने वाले भोग में शरीर के साथ मन का बहुत थोड़ा ही अंश जाता है। इसलिए भोग के साथ एक प्रतिक्रिया भी चला करती है। जाने-अनजाने एक अपराध-भाव भी साथ चलता देखा गया है। कारण उसका यही है कि गहरे मे उसे सम्पूर्ण आत्म-समर्थन प्राप्त नहीं होता।

प्रश्न—व्यक्ति को ऐसी स्थिति कैसे प्राप्त हो जाती है कि मन आत्मा के साथ चलने लगे और शरीर से कोई चाह उत्पन्न न हो?

उत्तर—प्रेम घना होता जाय, तो यह स्थिति सहज भाव से आ जानी चाहिए। प्रेम मे बाधा है अहकार। इसलिए अहंकार को जीतने का अभ्यास उस स्थिति तक पहुँचने मे सहायक बनता देखा जा सकता है। अहकार पर कैसे विजय पाई जाय, इसकी साधना के उपाय नाना पुरुषो के अनुभवो को बताने वाले शास्त्रो मे मिलते हैं। मैं स्वयं उसका 'अ'-'आ' भी नहीं जानता हूँ। प्रेम स्वयं ही वह सब काम कर दे सकता है, ऐसी मेरी मान्यता है। आदमी सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ अपने को छोड़ रहे, तो वह भगवान् की

शरण पाता है, ऐसा मैं समझता हूँ। अपनेपन से तब अनायास उसे छुटकारा मिल जाता है। शिशु बनकर जैसे माँ को सहज ही पा लिया जाता है, निपट शरणागत बनकर भगवान् को भी वैसे ही पा लिया जाना चाहिए। पर उन बातों में मेरी मति नहीं है, क्योंकि अनुभूति नहीं है। अपने अनुभव से जो कह सकता हूँ वह यह कि जब कामना द्वारा किसी को ले लेना चाहा है, तब उसे पाया नहीं जा सका है। कामना की धार जब कट गई है और सहानुभूति ही शेष रह गई है, तब अनायास निकटता की और उपलब्धि की भी अनुभूति हो सकी है। इस पर से मैंने माना है कि असल प्राप्ति शरीर से और शरीर की प्राप्ति नहीं है। अन्तर की व्यथा में ही व्यक्ति का सच्चा आत्म है और सहानुभूति उसी को खोजती है। चाह ऊपर भटककर ही रह जाती है। जिस चाह में अपना कर्तृत्व नहीं रह गया है वह इतनी समग्र हो गई है, उस चाह का रूप विषाद से मिलकर कुछ उस प्रकार की सहानुभूति का हो जाता होगा, ऐसा मुझे लगता है। उसमें शरीर को अपनी ओर से व्यग्रता धारण करने की आवश्यकता नहीं रह जानी चाहिए।

प्रश्न—सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ अपने को छोड़ देने का क्या तात्पर्य है? क्या यही कि जैसा उसके जीवन के प्रवाह में आए उसी में बहता जाय—शरीर से और मन से भी?

उत्तर—हाँ, काल गति के साथ एकदम तत्सम होकर कोई चल सके तो इससे अच्छी बात क्या है। जिसे अंग्रेजी में 'ड्रिफ्ट' कहते हैं, उससे यह बिलकुल भिन्न अवस्था है। क्षण के साथ जो तद्‌गत है, वही शाश्वत है। यह स्थिति एकाएक बहाव के साथ बहने-जैसी नहीं कही जा सकती, क्योंकि मन और उसके सूक्ष्म व्यापारों से तो आदमी की छुट्टी है नहीं। जिस ओर व्यक्ति बहता है, ठीक उससे उल्टी ओर उसके स्वप्नों को जाना पड़ता है। कामना सदा अप्राप्त में ठहरती है। प्राप्त के साथ व्यवहार ही

चलता है, कामना उस ओर नही चलती। इस तरह जिसको सामान्य भाषा मे बहना कहते हैं, श्रद्धागत जीवन की स्थिति तनिक भी वैसी नही है। वहाँ ढील नहीं दिखाई देगी। व्यक्तित्व वहाँ स्खलित नहीं, संचित गठित दीख पड़ेगा। स्वार्थ मे ही व्यक्ति को बहना और बिखरना होता है, निस्व होकर वह और निश्चल ही होगा। बहते बहाव मे बल्कि वह अडिग दीखेगा। श्रद्धा का लंगर थाम लेने पर फिर डगमग रहने की आवश्यकता उसके लिए नही रह जायगी। अपने सामान्य प्रेम की ही स्थिति देखो न। जिनमें किसी की सूरत समा गई है वे आँखे फिर सब कही उसी मूरत को देखती हैं, यहाँ वहाँ ललचने और भटकने का उन्हे तब अवकाश नही रहता। जो आँखें सब कहीं फिसलती है, मानना चाहिए कि वह दर्शन से खाली हैं, वहाँ कोई अभी बसा नही है। भीतर किसी के बस जाने पर फिर निराश्रित की तरह दीन और चचल अवस्था क्यो रह जानी चाहिए। मेरी धारणा है कि अपने को छोडे बिना प्रेम प्राप्त नहीं होता। प्रेम पाना फिर सब-कुछ पा जाना है—यानी अपने को खोना सदा के लिए खोने के डर से छूट जाना है।

प्रश्न—अपने को छोड़कर भी तो मनुष्य के मन से पूरी परितृप्ति नहीं होती, जैसे विवाह मे पत्नी पति पर अपने को न्योछावर करके भी दूसरे पुरुष की आकांक्षा कर सकती है। तब क्या जहाँ कहीं उसे आवश्यकता अनुभूत हो, उसे अपने को छोड़ते जाना चाहिए, तभी परिपूर्ण प्रेम की उपलब्धि होगी?

उत्तर—विसर्जन सम्पूर्ण हो, तो फिर वह व्यक्ति के उपलक्ष से होकर भी उसके पास ही नहीं रुक पाता, वह तो भगवान् के पास ही पहुँचता है। इसलिए सचमुच पति के अनन्तर भी पत्नी के पास देने को अर्घ्य रह ही जाता है। पति मे से अपनी सम्पूर्णता पत्नी नहीं प्राप्त कर सकती। पति को तो इसलिए द्वार कह सकते है कि जिसमे से होकर उसका शेष की ओर—

अखिल की ओर—सम्बन्ध बढ़ता और फैलता है। पति पर बन्द होकर तो विवाह पत्नी के लिए कारागार की व्यवस्था का रूप ही बन जाता है। गृहस्थाश्रम कारागार नहीं है, बल्कि मुक्ति का द्वार होने के लिए है। कुमारी अपने कौमार्य का समर्पण देकर पत्नी बनती है—यानी अपने को पति मे छोड़ने के द्वारा वह पत्नीत्व धारण करती है। निश्चय ही वह उस अर्थ मे अपने कौमार्य के शील को इतर कहीं देने के लिए उस तरह आजाद नहीं रहती। अपने को छोड़ रहने की भाषा स्वीकार करने के बाद उसके लिए आगे कठिनाई नहीं रह जानी चाहिए। उस छोड़ने की भाषा से जिसे व्यभिचार कहे ऐसा आचार नहीं निकल सकता। किन्तु स्त्री केवल स्त्री ही नहीं है, वह व्यक्ति भी है। उस रूप में वह आत्मवान् है। पत्नी अवश्य पति की होती है, पर आत्मा तो परमात्मा की ही हो सकती है। इस अर्थ मे आत्मार्पण तो सम्पूर्ण होता भगवान् की शरण मे ही है। यहाँ 'भगवान क्या ?' ऐसा सवाल मत उठा बैठना। भगवान वही है जहाँ हम सब अपना सर्वस्व होमते हैं और जो उस हव्य को आत्मसात् करता रहता है। अपने होमने को हम समझें, तो आगे उसको अलग से समझने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती कि जो उस आहुति का भोग प्राप्त करता है। जो अपने को छोड़ रहता है, मेरे खयाल में वह उस तरह अपनी कठिनाइयों को पार करने की राह पा जाता है।

प्रश्न—आत्मार्पण के साथ आकांक्षा तो चलती ही है—पत्नी इस आकांक्षा-पूर्ति में किसी पर-पुरुष के साथ कितनी स्वतन्त्रता रख सकती है ?

उत्तर—आकांक्षा, यानी भोगाकांक्षा ? भोगाकांक्षा की आजादी बन्धन उपजाती है। इससे उस आजादी के समर्थन का सवाल नहीं है। विवाह भोग की सुविधा देने के निमित्त ही हो, तो उस संस्कार मे कोई अर्थ नही रहता। विवाह-संस्था समाज को एक भूमिका और व्यवस्था देती है। भोग

की आजादी फिर अव्यवस्था उपजायगी। इसलिए जब भोग की आजादी का समर्थन नही हो सकता, तब पति-पत्नी के धर्म मे यह तो समाया ही हुआ है कि वे एक-दूसरे की त्रुटियो के प्रति सहानुभूति रखें और उनको अवकाश देकर चले। स्वभाव सहसा तो सधता नही, और ऊँचा-नीचा किसी का पैर पड़ जाता हो तो उस पर अधीर होने की आवश्यकता नही है। विवाह का मतलब कानून की जकड़ से बन्द उस कारागार का नही बन जाना चाहिए, जो आदमी को खोलता नही, उसको बन्द रखता है। मेरा मानना यह है कि भोग से आदमी खुलता नही, इसलिए विवाह मे उसी पर सीमा आती है। शेष तो उससे व्यक्ति के आत्मविकास मे सहायता ही मिलनी चाहिए।

प्रश्न—आप कहते है कि अपने को छोड़कर चलना चाहिए। क्या इसमे भोग की आजादी भी नहीं आ जाती ?

उत्तर—मेरे विचार मे नहीं।

प्रश्न—तो फिर छोड़कर चलने का आपका तात्पर्य क्या है

उत्तर—भोगाकाक्षा के मूल मे मुझे जान पडता है, 'अह' है। अपने को छोड़ना यानी अहता को छोडना। अहता को छोडना सहज है सो नहीं। इसलिए भोग से सर्वथा निवृत्ति की बात भी यहाँ नहीं है, केवल उसको मर्यादा मे रखने की बात है। मर्यादा असली आजादी मे अवरोध नहीं बनती, बल्कि विकासशील स्वतन्त्रता उस प्रकार की मर्यादा को स्वेच्छा भाव से अपना कर आगे बढती है।

प्रश्न—इसका तात्पर्य क्या यह हुआ कि अहंता को छोड़ने की साधना मे विवाह के अतिरिक्त भोग कभी-कभी आवश्यक होकर मार्ग मे आ सकता है, जैसा कि शरच्चन्द्र के पात्रों से लक्षित होता है ?

उत्तर—अपने प्रश्न को उदाहरण से तनिक साफ करके बताओ। शरच्चन्द्र के किसी पात्र का ही उदाहरण दो।

प्रेम की स्वतंत्रता और समाज की स्थिरता

प्रश्न—आपके 'त्याग पत्र' की मृणाल और 'शेष प्रश्न' की कमल का उदाहरण दे सकती हूँ।

उत्तर—'त्याग पत्र' की मृणाल और मेरे विचार मे 'शेष प्रश्न' की कमल का भी उदाहरण साफ नहीं है। साफ इसलिए नहीं है कि समस्या यहाँ पहले पति की ओर से उठी कही जा सकती है। विवाह की मर्यादा को इन दो नोमे से कोई तोड़ती नहीं है, बल्कि वह मर्यादा मानो स्वयं उन्हे छोड़ देती है। उससे आगे के उनके आचरण को विवाह की मर्यादा से नापने का सुभीता हमारे पास नही रह जाता। मृणाल को पति घर से निकाल देते है। फिर वह उनकी तरफ से मर भी जाय, तो उन्हे चिन्ता नहीं है—यानी विवाह की हर प्रकार की मर्यादा उसके ऊपर से अलग खींच ली जाती है। मानो वह पत्नी रह ही नहीं जाती, केवल व्यक्ति-रूप मे एक नारी रह जाती है। शरत् की कमल के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। पति की प्रवचना को सहते हुए भी वह अपनी ओर से उसकी सेवा मे प्रवृत्त ही रही। लेकिन एक रोज पाती है कि वह परित्यक्ता है। परित्यक्ता को केवल मरने का अधिकार है, ऐसा मै नहीं मानता। वह पति पर अपने भरण-पोषण का दावा दायर करने बैठे, इसे भी मैं कुछ बहुत ऊँची बात नही मानता। मै समझता हूँ कि पत्नीत्व का दावा पति पर उस हालत मे डालना, जब कि वह स्वय उसे लेने को तैयार नही है, स्त्री के लिए शोभनीय नही समझा जायगा। ऐसी अवस्था मे अपने व्यक्तित्व को हाथ मे लेकर स्त्री यदि अपने जीवन को उपयोगी बनाने के लिए बढती है, तो उसमे दोष देखने का अवकाश कहाँ है? शायद मृणाल को क्षमा करने में हमे कठिनाई भी हो, लेकिन कमल पर तो किसी प्रकार का लाछन नही लाया जा सकता। विवाह की मर्यादा स्वय विवाह की परिधि से आगे नही जाती—यानी, परित्यक्ता एव विधवा आदि के लिए ठीक वही नियम नहीं चल सकेगा जो गृहलक्ष्मी सधवा के लिए।

प्रश्न—जीवन को उपयोगी बनाने के लिए तो भोग की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है, जैसी मृणाल और कमल के चरित्र मे दिखाई देती है। फिर यह क्या समाज-मर्यादा का उल्लंघन-सा नहीं प्रतीत होता ?

उत्तर—विवाह के अतिरिक्त समाज की मर्यादा दूसरी और क्या है ? विवाह की मर्यादा तो उन उदाहरणो मे संगत रह नहीं जाती। फिर उसके अतिरिक्त जो आदर्श-नारी की कल्पना है, वह किसी स्पष्ट मर्यादा-रेखा पर आधारित नहीं है—यानी तब तो व्यक्ति को अपनी परिस्थिति के साथ स्वयं ही सामंजस्य साधना पडता है। मृणाल और कमल के उदाहरणो मे दोनो मे से कोई निर्बाध भोगासक्ति की तरफ बढती नहीं जान पडती। जान यही पडता है कि वे विवाह के दायरे से बाहर आ पड़ने पर अपने को सहानुभूति के दान अथवा प्रेम के प्रतिदान से रोक्ती नहीं हैं। मैं इस व्यवहार को एकदम उच्छृंखल और उद्दण्ड व्यवहार मानने को तैयार नहीं हूँ। उसमे एक विनम्रता है, यद्यपि दृढ़ता भी है। मेरे विचार मे पुस्तक पढते-पटते हम लाचार बनते है कि उस व्यवहार को सहानुभूति के भाव से ही देख पायॅ और ऐसे स्वय ही अपनी कठोरता से ऊॅचे बने। यदि है तो लेखक की यही सफलता है।

प्रश्न—सुनीता तो गृहलक्ष्मी थी, फिर भी हरिप्रसन्न को आत्म-समर्पण के लिए उद्यत हो गई। इस आचरण के औचित्य की रक्षा आप कैसे करते है ?

उत्तर—सुनीता ने आत्म-समर्पण यदि किया, तो क्या वह सीधे हरिप्रसन्न को ? शायद नहीं, वह समर्पण उसका अपने पति की आज्ञा और आदेश के प्रति अधिक था। यहॉ कदाचित् पूछा जा सकता है कि पति के आदेश पर भी वहॉ तक जाना क्या ठीक कहा जायगा ? लेकिन प्रश्न का यह रूप होने पर प्रश्न ही बदल जाता है। वह तब पातिव्रत्य के अर्थ का

हो जाता है, न कि मर्यादा-उल्लंघन का।

प्रश्न—सहानुभूति का क्या यह तकाजा हो सकता है कि दूसरे की आकाङ्क्षा को मृणाल की तरह पूरा ही करे। और यह तकाजा तो विवाह की अवस्था में भी पैदा हो सकता है—जैसा कि सुनीता में हरिप्रसन्न के लिए पैदा हो गया?

उत्तर—इस सम्बन्ध में नियम की रेखा कहाँ कैसे खींची जाय, मेरी समझ में नहीं आता। शायद इस जगह कोई भी नियम बना-बनाया देखा नहीं जा सकता। यह प्रश्न सामाजिकता की ओर से निर्णीत हो जाने वाला नहीं। प्रश्न यह सामाजिक नही आत्मिक है, और इसका हल भी व्यक्ति अपने लिए करता है। मीरा अपने पति राणा के प्रेम को पत्नी-रूप में किसी प्रकार स्वीकार नहीं कर सकी। यह कहना कि उनमें पति के प्रति सहानुभूति की कमी थी, उन्हें न समझना होगा। किन्तु यह गहरी प्रेम की पीड़ा ही थी, जो उन्हें इस क़दर अडिग बनाए रही। यह व्यवहार मीरा के सिवा किसी भी दूसरे के लिए शायद ही समर्थनीय ठहराया जा सके। आज की माता आनन्दमयी के बारे में भी ऐसा ही कहा जाता है। वे पति के प्रति अपने को नहीं दे सकीं। इसमें उनकी ओर का अभिमान नहीं देखा जाता, बल्कि एक विवशता ही देखी जाती है। उस घोर विवशता के प्रकाश में बने-बनाए किसी प्रकार के निर्णय को स्थगित कर देना पड़ता है। मृणाल और सुनीता के व्यवहार पर दो सम्मतियाँ हो सकती हैं। लेकिन अगर अपने को चाहा या बचाया नही गया है, तो मुझे ऐसा लगता है कि उस व्यवहार पर फिर अधिक आपत्ति करने की तबीयत दूसरे में शायद ही शेष रह जानी चाहिए। मैं मानता हूँ कि यह प्रश्न हर एक के जीवन में विवाह के बाहर या विवाह के भीतर आता ही रहता है। उसका निर्णय भी प्रत्येक व्यक्ति अपने गुण और स्वभाव के अनुसार करता जाता है। शास्त्रों में तो कुछ ऐसे शब्द भी हैं जो व्यक्तिगत रुचि-निर्णय के लिए मानो अवकाश ही नही रहने देना

चाहते। जैसे शब्द है पितृ-ऋण। यानी भोग के प्रति रुचि का सर्वथा अभाव हो, तो भी कर्तव्य के नाते संतान की सृष्टि आवश्यक है, वह सामाजिक ऋण है। अन्त मे यही ठहरता है कि अपनी वासना को जब कि व्यक्ति गर्हणीय समझकर पीछे भी रोक सकता है, तब दूसरे की वासना के प्रति उस तरह अवज्ञाशील होकर चलना उचित नहीं होता। इन परिस्थितियो मे हर एक कुछ समझौता करता हुआ चलता है। प्रत्येक उदाहरण मे उस समझौते की रेखा कहाँ है, यह पहले से तय करना कठिन है।

प्रश्न—दूसरे की वासना के प्रति अवज्ञाशील नहीं होना चाहिए, यह मानकर भी आप मीरा के अपने पति के प्रति आचरण का समर्थन कैसे करते है? आप शायद कहेगे कि मीरा के प्रेम मे बहुत सघनता थी, किन्तु इस नाते तो और भी मीरा को अपने को पति को समर्पण करना चाहिए था।

उत्तर—मीरा में राणा की चाहना के प्रति अवज्ञा रही है, यह मै मान सकूँ, तो मीरा के लिए श्रद्धा-भाव रखना मेरे लिए कठिन हो जायगा। मै यह नहीं मान पाता, बल्कि मानता हूँ कि मीरा मे राणा के लिए अत्यन्त आर्द्र संवेदना का भाव था। वे मानो राणा से आशा रखने का अपना अधिकार मानती थीं कि पति होकर मुझ को ऊपर से ही चाहकर वे क्यो रह जाते है, मेरी अन्तरगता को क्यो अंगीकार नही कर लेते है। मैं कृष्ण की अनन्य भक्ति मे मीरा के मन का कोई काठिन्य नही देखता हूँ। उसमे अपने को (राणा के प्रति) न देने का भाव उतना नही है, जितना अपने को सर्वथा दे डालने का है। और चूँकि वह दे डालना सर्वांशतः है, इससे कृष्ण के—अर्थात् भगवान् के—प्रति ही वह हो सकता है। यह कि कैसे वह आतुर प्रेम मीरा को पति से बिछुडे रहने की शक्ति दे सका, समझना बहुत कठिन नहीं होना चाहिए। ऐसी घटना न असम्भव है, न विरल।

प्रश्न—राणा के द्वारा अपनी अन्तरंगता को अंगीकार करवाने

के लिए मीरा को यह आवश्यकता क्यों अनुभव हुई कि वे राणा की न होकर केवल कृष्ण की ही हो जायँ ?

उत्तर—कृष्ण की होने के बाद अन्त में क्या सचमुच राणा ने नहीं पाया कि मीरा उन्हें गम्भीरतर रूप में प्राप्त हो गई हैं, कि अब उनके बीच किसी प्रकार का विच्छेद सम्भव ही नहीं है ? मैं मानता हूँ कि उस सब के बाद अन्त में पति-पत्नी इतने घनिष्ठ भाव से परस्पर प्राप्त हो आए कि शायद ही किसी दम्पति में वैसी उपलब्धि सम्भव हो सके। कृष्ण-भाव के प्रतीक-रूप से बीच में आने का समर्थन यही देखा जा सकता है।

प्रश्न—इसका तात्पर्य क्या यह हुआ कि दूसरे की वासना का निषेध करके ही उससे आत्मीय सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है ?

उत्तर—हाँ; सच्ची आत्मीयता के लिए परस्पर की वासना का निषेध बहुत-कुछ अनिवार्य होता है। किसी दम्पति ने ब्रह्मचर्य का व्रत लिया हो, तो मेरा अनुमान है कि इस अवस्था में दोनों परस्पर की वासना के निषेध में योग देकर ही एक-दूसरे के सहायक होते हैं। ऐसे निश्चय ही उनमें अभिन्नता और आत्मीयता बढ़ती होगी। गांधीजी ने जो इस अभ्यास को अपने जीवन का सब से मीठा अनुभव कहा है, उसका यही तात्पर्य है।

प्रश्न—तब फिर आप भोग को जीवन-विकास के लिए आवश्यक क्यों बताते है ? और किसी की वासना के लिए अपने को देने का समर्थन क्यों करते हैं ?

उत्तर—मैं भोग को योग के विरोध में देख नहीं पाता हूँ, जैसे कि बचपन को युवावस्था के विरोध में नहीं देख पाता हूँ। भोग को नष्ट करके कोई योग सधेगा, यह भ्रान्त धारणा है। इसी से भोग को गाली देकर चलने वाली किसी साधना का मैं समर्थन नहीं करता। मीरा ने भी जब कृष्ण को अपनाया, तो उसमें स्वीकार ही प्रधान था, राणा का इन्कार तो

ऊपर से प्रतीत होने वाली ही वस्तु है। असल मे इनकार जैसी वृत्ति मीरा मे थी ही नही। मीरा मे कृष्ण को पाकर आनन्द की कुछ अतिरिक्त मात्रा ही दीखी, न्यूनता नही दीखी। ज्यादा को अपना कर कम को हम खोते हैं, यह समझना गलत है। कल हजार पाने के लिए आज जो सौ लगता है, सो वह सौ का त्याग नही, बल्कि नौ सौ अतिरिक्त की प्राप्ति है। भोग और योग को मैं इसी रूप मे देखता हूँ। भोग मे सदा ही अभाव है, योग में अभाव सब भर जाता है। बल ऊपर के कथन मे आत्मार्पण पर है। आत्मा का अर्पण आत्म के प्रति ही होता है। वहाँ वासना का स्वीकरण आवश्यक नही रहता। महान् प्रेम अपने मे से संयोग की सृष्टि करता रहता है, इससे स्थूल वियोग उसे सहज सह्य बना रहता है। वासना व्यक्ति का स्व नही है, स्वस्थ प्रेम के पास यह देख लेने की सहज अंतर्दृष्टि होती है। वासना की अवज्ञा न करने की बात मे इतना ही सार मानना चाहिए कि अहकार मे की गई वैसी अवज्ञा किसी तरह भी कोई ऊँची चीज नही है। वह ब्रह्मचर्य—अर्थात् ब्रह्म-रूप चर्या—कदापि नही है।

प्रश्न—अवज्ञापूर्वक न सही, पर जब यह कठिनाई उपस्थित होती है, तो उसे, जिसके लिए उसे सुलझाना अनिवार्य हो जाता है, ऐसी स्थिति मे क्या करना चाहिए? अवज्ञा न करने की कोशिश मे क्या किसी की वासना के लिए समर्पण कर देना आप उचित समझते हैं?

उत्तर—वासना का इलाज दूसरी ओर का हठ या अभिमान नहीं है। वासना उससे चोट खाकर और भड़केगी ही, यो तो वासना स्वयं अपने मे इस प्रकार उफनाई रहती है कि वह आघात से बच सके इसकी बहुत कम सम्भावना है। इसका मतलब यह नहीं है कि उसके आगे हठात् झुक जाया जाय, लेकिन ऐसे समय सहानुभूति को साथ रखना और भी जरूरी हो जाता है। वासना का वशीकरण-मन्त्र सहानुभूति है।

प्रश्न—सहानुभूति का तात्पर्य क्या दूसरे की इच्छा को अपनी ही इच्छा समझ लेना नही है ?

उत्तर—नहीं, जरूरी तौर पर वही नही है। अधिकाश हमारी इच्छाएँ ऊपरी होती है, हमारी ही गहराई के साथ उनका सम्बन्ध नहीं होता। सहानुभूति उत्तरोत्तर अन्तरमन की ओर जाती है। इस तरह सहानुभूति मे इतनी शक्ति हो सकती है कि वह दुर्वासनाओ के साथ एकाकार करके व्यक्ति के व्यक्तित्व को न देखे, और फलतः दुर्जन मे भी सज्जन की प्रीति और प्रतीति बनाए रखे। ऊपरी इच्छावासना के साथ तद्गत व्यक्ति नही है—सहानुभूति की ऑख यह सहज भाव से देख पाती है। इसलिए यह आवश्यक नही है कि सहानुभूति मे किसी की दुष्कामनाओ को अवसर और अवकाश ही दिया जाय। बल्कि सच्ची सहानुभूति ऐसी लालसाओ का सहज प्रतिरोध बनती है।

प्रश्न—इस सहानुभूति के प्रदर्शन का रूप कैसा होता है, जिससे दूसरे की वासना का सहज प्रतिरोध हो सके ?

उत्तर—क्या हम नित्य-प्रति के जीवन मे नहीं देखते कि बालक जो बाहर ऊधम-दगा मचाया करता है प्यार करने वाली माँ की गोद मे पहुँच-कर मेमना बन जाता है ? विद्रोही और उपद्रवी पुरुष एक जगह कातर और विनम्र बना दीखता है। ऐसा क्या इसीलिए नहीं होता कि सहानुभूति विकार का शमन करती और व्यक्ति के प्रकृत-भाव को स्फुरित करती है ? जबकि अहकार सामने के विकार को चुनौती देकर उसे उल्टे उत्तेजना पहुँचाता है। सहानुभूति किन परिस्थितियो मे क्या प्रकट रूप धारण करेगी, इसके नियम का निर्णय करना मुश्किल है। आर्द्र और निर्मम दोनो ही उसके रूप हो सकते है।

प्रश्न—आर्द्र और निर्मम दोनों मे कौन अधिक प्रभावशाली है और दोनो प्रकार के रूपो का प्रकटीकरण स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध

मे किस प्रकार होगा ?

उत्तर—कहा न कि नियम बनाकर देना कठिन है। निर्मम रूप तभी होता है जब आर्द्रता अपने अतिरेक को पार कर जाती है। ऐसी अवस्था मे निर्ममता की चोट दूसरे पर कम, अपने पर ज्यादा पड़ती है। उसके प्रकट रूप के कारण प्रभाव मे अन्तर पडने की आवश्यकता नहीं है। स्त्री और पुरुष दोनों ही इस सम्बन्ध में एक और एक-से हैं। कारण, वे परस्पर भिन्न हों, पर हैं तो दोनो मानव व्यक्ति ही। और इस विषय मे उनमे अन्तर नहीं देखा जा सकता।

प्रश्न—स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध मे आर्द्र और निर्मम रूपों के प्रकटीकरण से मेरा तात्पर्य यह है कि पुरुष की वासना के प्रति स्त्री का और स्त्री की वासना के प्रति पुरुष का आर्द्र और निर्मम रूप मे अलग-अलग कैसा व्यवहार होगा ?

उत्तर—एक मेरे परिचित है। वह अपनी एक स्त्री-मित्र का प्रस्ताव मान्य नहीं कर सके और उन्होंने अन्यत्र विवाह किया है। इससे दोनो का सम्बन्ध टूट नही गया है, बना वह अब भी है, लेकिन उसमे उतार-चढाव अधिक आने की आवश्यकता नहीं रहती है। उन स्त्री-मित्र का भी विवाह हो गया है। ऐसी अवस्था मे दोनो मे सहानुभूति का भाव और दोनो ओर सम्बन्ध-मर्यादा का ध्यान, सहज भाव से मिल-जुलकर, उनके परस्पर व्यवहार का नियमन कर लेते होगे। यह नही कि समस्या नहीं उत्पन्न होती होगी, पर निश्चय ही उनमे वह उत्कट बनी नही देखी जाती। मान लीजिए कि इस परिस्थिति मे किसी ओर से तनिक दुराव का, मिथ्या; या आग्रह का आश्रय लिया जाता है, तब उलझन भी पड़ेगी और हो सकता है कि कोई पक्ष हठात् कठोरता से काम ले उठे। लेकिन ऐसी जगह पहले से कुछ कहकर नही रखा जा सकता। तात्कालिक भाव से ही व्यक्ति को व्यवहार करना पड़ता है। प्रतीत होता है कि व्यवहार की मर्यादा और हृदय की सहानुभूति इन दोनों मे

यत्किंचित् तनाव रहना अवश्यम्भावी ही है। मर्यादा की ओर से होकर अधिक-सम्भावना है कि भावो के व्यक्तीकरण का रूप कठोर हो, दूसरे भावना के तट से उठा होने पर सम्भावना है कि उसका रूप भीगा हो। मर्यादा का जहाँ प्रश्न हो, वहाँ भार अधिकाश स्त्री पर आयगा। मर्यादा स्त्री से है, इसलिए उसके निर्मम होने की अधिक सम्भावना है। पुरुष स्त्री की कामना के प्रति कठोर कम ही होता है, हो सकता भी कम है। लेकिन जैसा कहा कि इस विषय मे कुछ भी कहकर नहीं रखा जा सकता।

प्रश्न—दूसरे की वासना के प्रति सहानुभूतिपूर्ण होते हुए भी दूसरा अपने मन पर चोट लेता दिखाई देता है। क्या इसका भी कोई इलाज सम्भव है?

उत्तर—वासना को पूरी तरह चोट खाने से बचाना शायद सम्भव नही है।

प्रश्न—पूर्ण सहानुभूति वहीं है, जहाँ अपने को पूरी तरह आदमी दूसरे के हित मे छोडकर चले। इस दृष्टि से सहानुभूति के आधिक्य के कारण दूसरे को भोग की तृप्ति देना भी तो सम्भव हो सकता है? इससे दूसरे की वासना के शमन मे ज्यादा सहायता मिलेगी, क्या आप ऐसा नहीं मानते? आपकी 'बीट्रिस' कहानी मे तो कुछ-कुछ इसी तथ्य का आभास मिलता है।

उत्तर—यह सवाल के लिए नाजुक जमीन है। अपनी 'बीट्रिस' कहानी की तरफ मैंने बड़े कॉपते-कॉपते कदम बढाया था। उस प्रयोग से सशक मै अब भी हूँ। पर वह खतरनाक क्षेत्र है। मुझे कहना होगा कि सहानुभूति अन्त में व्यक्ति को अपने मे शून्य करके ही मानती है—अर्थात् सहानुभूति की प्रेरणा मे आचार सभी प्रकार का सम्भव बन सकता है। महर्षि व्यास को धर्म के रूप में शुक्र-दान करना पड़ा था। नियोग की बात जो शास्त्रो मे आती है, यही दरसाती है। पार्वती को शिवजी ने अपनी आवश्यकता की

दृष्टि से नहीं, उनकी तपस्या से द्रवीभूत होकर ही अपनाया था। इन उदाहरणों के रहते हुए सहानुभूति के ऊपर किसी और धर्म के अकुश की प्रतिष्ठा आवश्यक नहीं है। सहानुभूति स्वय आत्म-धर्म है।

प्रश्न—आपने तो अभी तक दूसरे की वासना को सहानुभूति-पूर्वक स्थान न देने के आधार पर बात की थी। इस आदर्श का तो ऊपर की स्वीकृति से खण्डन हो जाता है। क्या यह आपको मान्य है ?

उत्तर—सहानुभूति परम धर्म है। उसे आदेश-निर्देश फिर किससे लेना है ? इसलिए सामने की वासना के प्रति उसे क्या करना है, यह बाहर से उसे कौन बताने जाय ? अन्त मे निर्णय स्वयं सहानुभूति की सत्ता के ही हाथ है। गीता मे है : 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरणं व्रज'। इसमे सब धर्मों को छोडने की तैयारी माँगी गई है। यहाँ धर्म का आशय है माने हुए आदर्श और सिद्धान्त। उन सभी को तजकर जिस एक की शरण को गह लेना है, वह हैं कृष्ण। कृष्ण—अर्थात् परम चैतन्य। इसका आशय है शुद्ध जीवनानुभूति और निखिल के प्रति सहानुभूति। इसलिए मुझे कहना होगा कि परम योगी कृष्ण की लीलाओं पर किसी प्रकार की सीमा नहीं आ सकती।

प्रश्न—पर इस प्रकार तो सहानुभूति की चेष्टा मे मनुष्य के स्वयं के वासनाग्रस्त होने और दूसरे की वासना को प्रोत्साहन देने का भी भय है। भोग का और अनासक्ति का सामंजस्य कैसे बिठाया जा सकता है ?

उत्तर—हाँ, भय है। लेकिन कौन महानता भय से खाली है ? अनासक्ति नकारात्मक अवस्था नहीं है। पत्थर किसके प्रति आसक्त है ? लेकिन उससे अनासक्ति का योग सीखने कोई नही जायगा। अनासक्त अवस्था आनन्दहीनता की नहीं है, बल्कि शायद चरमानन्द की है। भोग का सार

तृप्ति है न ? लेकिन तृप्ति के बाद फिर तृष्णा है और तृष्णा के बाद है घोर वितृष्णा। भोग की आसक्ति और योग की अनासक्ति मे यह अन्तर नही है कि एक जगह आनन्द है दूसरी जगह उसका अभाव। अन्तर यह है कि भोग का आनन्द छल है, योग का आनन्द सहज है। यूँ भी कह सकते है कि योग मे भोग का तमाम सत्याश समाया रहता है केवल मिथ्याश नही।

प्रश्न—तो इसका आशय यह हुआ कि निरासक्त भाव यदि व्यक्ति का है, तो उसकी वासना को स्थान देने मे भी आप हर्ज नहीं समझते ?

उत्तर—असल मे सारी वासना का पूर्वरूप भावना है। भावना तो स्वस्थ वस्तु है। विकार पडता है, तब वही वासना मे रूपान्तरित हो जाती है। विकार अधिकाश तब उत्पन्न होता है जब भावना को राह नही मिलती और वह दब घुटकर कुचली जाती है। तब वह आत्मरक्षण मे उद्धत होती है। जिसको निरासक्त व्यक्ति कहे, उसके समक्ष वासना मानो खुलकर उसी तरह स्वस्थ होने का अवकाश पाती है, जैसे कोई सील और गन्ध से भरी जगह सूरज की धूप के आगे खुली रहने पर। धूप सील को सोख जायगी, गन्ध को उडा देगी और अँधेरे को वहाँ से गायब कर देगी। निरासक्त पुरुष के सामने भी अधिक सम्भव है कि व्यक्ति की वासना का विकार छूट रहे, वह वापस अपना स्वास्थ्य पाने की ओर मुड़े और खुल जाने पर वह प्रकृत भावना का रूप ले रहे। याद रखना चाहिए कि भावना को वासना बनना होता है तो अधिकाश दमन या अपमान की चोट या उसके भय से। अनासक्त व्यक्ति कभी इस प्रकार का अपमान न देगा। अतः उसके कारण वासना के उत्तप्त हो रहने की सम्भावना भी कम ही होगी।

काम की सामाजिक परिणति

प्रश्न—आपने कहा कि पति-पत्नि के सम्बन्ध मे व्यक्तिगत अंश ही उन तक सीमित रहता है, शेष समाज और जगत् को मिलते रहने के लिए खुला है। मेरे मन मे यह प्रश्न होता है कि व्यक्तिगत की भी सीमा क्यों मानी जाय—मनुष्य अपने पास शेष कुछ न बचाकर सभी कुछ समाज और जगत् के लिए खुला क्यों न छोड़ दे ?

उत्तर—सैक्स जिसको कहते हैं, यानि मैथुन, वह निर्वैयक्तिक भूमि कापर साधारणतया सम्भव नही रह जाना चाहिए। वैयक्तिक तल से उत्तीर्ण प्रेम का नाम ही ब्रह्मचर्य है। जब और जहाँ तक वह है वहीं तक मैथुन है। सब कुछ जब सबके लिए हो गया तब अहं-चर्या समाप्त हो गई, निपट ब्रह्म-चर्या ही रह गई। उस अवस्था मे विवाह शब्द असिद्ध हो जाता है। इसी लिए कुछ ऐसा व्यक्ति मे अवश्य है, और लगभग वह अन्त तक रहता है, जिसको निर्व्याज प्रसन्नता से दिया नही जाता ससंकोच विवशता से ही दिया जा सकता है। लोक-व्यवहार मे उसको सीमित रखना, यहाँ तक कि एक तक सिमटाए रखना, हितकर होता है। जो सीधे भगवान् के प्रति आत्म-दान करने की क्षमता रखता है उसको सचमुच कुछ भी अपने तक रोकने की जरूरत नही है। क्या कृष्ण के प्रति मीरा के समर्पण मे किसी को भी कम मासलता प्रतीत होती है। काम शक्ति (Sex energy) इस अवस्था मे रूपातरित (Sublimate) होकर अतीन्द्रिय बन जाती है। इस रूपातर मे

ह्रस्व कुछ नहीं होता सब कुछ परिपूर्ण ही होता है। 'अह' को तो जहाँ तक हो सके रोकने की ही बात कही जा सकती है। लज्जा, कुण्ठा, जुगुप्सा का जो अनिवार्य भाव मैथुनाचार के प्रति मानव-मन में गहरा बिधा हुआ है सो इसी का निर्देशक है।

प्रश्न—मीरा का प्रेम-सम्बन्ध तो अव्यक्त के प्रति है इसलिए अतीन्द्रियता का निर्वाह हो गया। पर क्या आप व्यक्त के प्रति किसी अतीन्द्रिय सम्बन्ध का उदाहरण दे सकते है?

उत्तर—क्यो, लगभग सभी उदाहरण क्या उसके नहीं हैं? पत्नि एक पति की ही है न, इसी तरह पति भी एक पत्नि का है। इन दोनो का शेष सबके प्रति स्नेह क्या न्यूनाधिक अतींद्रिय ही न होगा। हाँ, ऐन्द्रियिकता का व्यक्त के प्रति सम्बन्ध अवश्य वह चीज है जिसको हठात् अपने मे सिमटा कर रखना होता है। व्यक्त याने वस्तु या व्यक्ति, अर्थात् एक अश या खण्ड। अश मे, याने व्यक्ति मे, पूर्ण के प्रति एक विवश समग्र समर्पण की जो कामना है वह अन्य खण्ड या अश को लेकर तृप्त नहीं हो सकती। इसीलिए मीरा के कृष्ण यदि अव्यक्त थे तो राधा ने भी अपने व्यक्त और शरीरधारी कृष्ण को आत्मार्पण की सम्पूर्णता के जोर से अव्यक्त परमात्म-पुरुष से तत्सम ही बना पाया था। उस प्रेम मे तो कम दैहिकता रहने की आवश्यकता ही न दीख पड़ेगी। लेकिन मेरा आग्रह है कि उसमें अतीन्द्रियता या आध्यात्मिकता भी किंचित् कम न थी।

प्रश्न—ऐन्द्रियिकता के दान को सीमित रखने के लिए आप जो दलील देते है वह क्या इस बात का समर्थन नहीं करती दीखती कि ऐन्द्रिकता का बिलकुल दान न दिया जाय तो और अच्छा है, जिससे बिना खण्ड-खण्ड हुए सीधा ही सम्पूर्ण के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाय।

उत्तर—हाँ, अच्छा है। लेकिन यह विरल है। इतना विरल कि

इसे लगभग असम्भव कहें तो हर्ज नहीं। मानव इतिहास में अवश्य ऐसे पुरुष हो गए हैं कि जिन्हे मानो पता ही न चला कि वे हैं—प्रकृति और प्राणी के प्रति वे इतने विभोर और विमुग्ध हो कर रहे। किन्तु ऐसे अपवादो की बात कहने से लाभ नहीं है।

प्रश्न—आप इसे असम्भव क्यों मानते हैं ?

उत्तर—इसलिए कि पशु से अलग होते ही मनुष्य में बुद्धि नामक तत्त्व पैदा हो आया। वह बुद्धि जब तक आत्म मे सर्वथा समाहित न हो जाय तब तक अहंता और ऐंद्रियिकता को भी बने रहना होगा। इसलिए खण्ड के प्रति ललक-लालसा है, उसको पार कर अखण्ड के प्रति सम्पूर्ण समर्पण उसके लिए सहज साध्य नहीं दुःसाध्य ही है। इसी कारण मिथुन सम्बन्ध से सहसा उत्तीर्ण नहीं हुआ जाता, सतत साधना से क्रमशः उसे ऊर्जस्व (Sublimate) करना होता है।

प्रश्न—इसका आशय क्या यह समझूँ कि आप स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को, जिसके आधार पर सृष्टि की रचना होती है, हेय मानते है ?

उत्तर—नहीं, हेय मानने की आवश्यकता नही है। जो है उसको हेयोपादेय के विशेषण पहनाए बिना मान लेना काफी है। हेयोपादेयता अपने उपयोग द्वारा हम ही उसमें डालते हैं। विवाह इसीलिए एक धार्मिक संस्कार है। उसमे मैथुन की स्वीकृति है, वह स्वीकृति ही पाप भाव को नष्ट कर देती है। इसप्रकार शरीर-सम्बन्ध भी उत्तरोतर आत्म-चैतन्य को शरीर स्तर से ऊपर उठाने मे सहायक बन सकता है।

गहरे मे जायँ तो एक और बात देख मिलेगी। संभोग मे व्यक्ति की अहंता की हार है। आदमी को उस क्षण सुध-बुध नहीं रहती, अपनापन वह भूल जाता है। एक तरह वह निःस्व हो जाता है। कह सकते है कि तब वह स्वय नही है, प्रकृति के हाथ एक यन्त्र है। ऐसे सोचें तो शिशु की सृष्टि

मनुष्य द्वारा नहीं होती है, मनुष्य को उसमे अपना कर्तृत्व मानने का अवकाश नहीं है। सृष्टि परमेश्वर की लीला का ही नाम है। मनुष्य की अहंता मे सृजन की शक्ति नहीं है। इसलिए जहाँ तक चैतन्य सृजन का प्रश्न है, मनुष्य की बुद्धिगत अहंता को या तो सोए रहना पड़ता है, जैसे पशु मे, या सामयिक तौर पर खो और डूब जाना पड़ता है, जैसे मनुष्य में, या उसे सर्वथा घुल जाना पड़ेगा जैसे परम योगी मे। ब्रह्मानन्द के लिए विषयानन्द की चरमता की उपमा दी है, सो कुछ इसी भाव को व्यक्त करने की दृष्टि से।

प्रश्न—प्रत्येक प्रकार की कामना मे ही व्यक्ति की लगभग यही दशा होती है, सुध नहीं रहती, तब केवल काम-प्रेरणा मे ही परमेश्वर की लीला का ऐसा चमत्कार क्यों दीखता है ?

उत्तर—काम (Sex) क्या कामना से अलग चीज है ? कामना का मूल रूप काम है। यो भी कह सकते हैं कि विविध कामनाओ के नीचे मुख्य तत्त्व काम-प्रेरणा है।

हर कामना मे आदमी सुध-बुध खोया दिखाई दे तो इसमे अन्यथा व्यपार क्या है ? यही तो इसमे से सिद्ध होता है न कि गुण ही गुण मे प्रवर्तन करते हैं, आदमी अपनी अहंता को लेकर यो ही बीच मे राग-द्वेष उत्पन्न करके उलटे और बंधन और क्लेश का पसारा फैलाया करता है। अन्त मे उसे देख ही लेना है कि कर्ता वह नहीं है, भवितव्यता मे केवल वह साधन-भर है। यह देख लेकर वह उलझन से बचेगा, यद्यपि कर्म से बचने का उसके पास अवकाश नहीं है।

प्रश्न—मुझे स्मरण है कि एक बार जब आपसे मैंने यह प्रश्न किया था कि फ्रायड की तरह क्या आप सेक्स को सब कर्तव्यों के मूल मे मानते है, तब आपने 'नहीं' कहा था। फिर आप आज अपनी बात के विरोध मे यह कैसे कह रहे है कि विविध कामनाओं

के नीचे मुख्य तत्त्व काम-प्रेरणा है ?

उत्तर—दीखने वाले विरोध की तुम चिन्ता न करो। असल में तो विरोध है नहीं। सबके मूल मे फ्रायड वाले काम को आस्तिक होकर मैं कैसे मान सकूँगा ? मूल सब कर्तृत्व में मैं उस परम तत्त्व को मानता हूँ, जिसके लिए हमारे पास ईश्वर जैसे शब्द हैं। कामना के मूल मे काम है। लेकिन कामना के साथ उतनी ही प्रबल, बल्कि उससे कहीं अधिक प्रबल, एक दूसरी चेष्टा और विवशता भी प्राणी के साथ है। काम के विरोध मे मैं उसे यज्ञ कहूँ। काम मे व्यक्ति झपटकर भोग लेना चाहता है, यज्ञ मे कही बिछकर मिट जाना चाहता है। जगत् व्यापार इन दोनो चेष्टाओ के घात-संघात से चल रहा है। अपने को सब कुछ मान डालने और बना डालने की स्पर्द्धा से कहीं मौलिक और प्रबल आदमी में विवशता है अपने को मिटाकर कुछ न-रखने की। इसीलिए आदमी लाचार होता है कि वह शहीद को माने और पूजे। जिन अवतारी पुरुषों मे उसने अपना सम्पूर्ण और सार्थक प्रतिबिम्ब देखा, और इसीलिए जिनकी श्रद्धा-अर्चना के अधिकार को वह किसी कीमत छोड़ नही सका, वे इस यज्ञ-तत्त्व के प्रतीक थे। यह तत्त्व अन्तिम और शाश्वत है और समस्त काम और कामना को उसी मे समाधि लेकर अपनी कृतार्थता प्राप्त करनी है। इस मेरे अभिप्राय में से तुम यह तो न कह पाओगी कि काम को मै कम मौलिक मानता हूँ, लेकिन आदि तत्त्व यज्ञ है। और जैसे यज्ञ के मध्य मे अग्नि और ज्वाला होती है वैसे ही परमेश्वर की सृष्टि मे प्राणदाहिनी यह काम-ज्वाला है। उसमे से परमात्मत्व का आभास किसी तरह नही मिल सकता, जैसे कि याज्ञिक शान्ति वह्नि-शिखाओ के सीधे दर्शन मे से नही मिल पाती। बुद्धि किसी प्रकार इस रहस्य को नही पा सकेगी। निष्काम ने काम को क्यो सिरजा, अद्वैत मे से यह द्वैत कैसे आया और निर्गुण निराकार निष्कलंक मे से नाना कलंक, कल्मष, गुण-अवगुण, वर्ण-विवर्ण क्योंकर पैदा हुए—बुद्धि की पकड़ मे इसका

उत्तर शायद कभी भी न आ सकेगा। बुद्धि से नानात्व ही हाथ आयगा। पर वहीं श्रद्धा की अनिवार्यता है। इस तरह आस्तिकता ही है जो एकत्व पर दृष्टि उठाए रहे, माथा टेके रखे, और इस तरह नाना बंधन को काटने में समर्थ हो।

प्रश्न—क्या आप ऐसा मानते हैं कि प्रकृत्यनुसार व्यक्तियों को इस तत्त्व से जोड़ने में कहीं सरलता व कहीं दुर्गमता अनुभव होती है, किसी को छोटा व किसी को बड़ा रास्ता तय करना पड़ता है ?

उत्तर—लोगों में गुण-स्वभाव की ऐसी तरमता तो स्पष्ट ही है। बुद्धि जब प्रमत्त हो जाती है तो कठिनाई बेहद बढ जाती है। श्रद्धा से स्वतन्त्र होकर बुद्धि स्वैरिणी होती है। तब नकार और भोगाचार में वह प्रवृत्त होती है। शिशु बनकर जिसको सहज अपनाया जा सकता है, आवश्यकता से अधिक सयाना बनने पर वह हाथ आया भी चला जाता है। जो जीवन भर शिशुवत सर्वथा निरीह रह कर जी सकता है वह सहज भगवान् की गोद पा जाता है। उसमें शायद जिसको काम कहे वह वस्तु जाग्रत ही नहीं होती कि उसे शान्त करने का प्रश्न उठे। शेष में कामना को उत्तरोत्तर अभिलाषा में परिणत करने की आवश्यकता रहती ही है। इसी से अधिकांश सीधे नहीं साधना के द्वारा उस परमतत्व से सम्बन्ध साधना होता है।

प्रश्न—कामना को अभिलाषा में परिणत करने से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—कामना उस खिंचाव को कहेंगे जिसे दूसरी ओर से कोई दुराव थामता है। आकर्षण यदि एक की ओर, तो अपकर्षण दूसरे की तरफ। यह वह राग है जिसको भरने के लिए द्वेष को आना ही होता है। ऐसे राग-द्वेष की ओर तृष्णा-वितृष्णा की जोड़ी साथ चलती है। अभिलाषा से मेरा तात्पर्य भाव की उस अवस्था से है जहाँ वह इतना चञ्चल नहीं है कि अपने ही विरोधी भाव में क्षण-क्षण परिणत होते रहना उसके लिए जरूरी हो।

कामना मे उभार-उतार बराबर होता रहता है। उसका रूप ही यह है। अभिलाषा मे अपेक्षाकृत स्थैर्य है। अभिलाषा एक स्वस्थ भाव है, प्रतिक्रियात्मक नही है। कामना प्रतिक्रिया-जन्य है। इसी से अभिलाषा मे पाने और पकडने की व्यग्रता नही रहती। कामना मे वैसे आग्रह का ताप बना ही रहता है। कामना घिरी (Exclusive) होती है, अभिलाषा मुक्त। कामना का लक्ष्य व्यष्टि है, अभिलाषा उत्तरोत्तर समष्टि के प्रति उन्मुख होती है।

प्रश्न—जब आप अभिलाषा का अर्थ इस प्रकार लेते है तब क्या अभिलाषा की अवस्था तक पहुँचने को ही जीवन का चरम साध्य मानते है? यदि नहीं तो अभिलाषा व सिद्धावस्था मे क्या अन्तर है?

उत्तर—चरम साध्य न कहो, चरम साधना कह लो। चरम साध्य की बात नही की जा सकती, क्योकि वहॉ साधक की स्थिति बचती ही नहीं। साधक जहॉ सिद्ध है वहॉ स्वयं साध्य है। बात इसलिए वहीं तक जा सकती है जहॉ तक साधक बचा हुआ है, और इसलिए साधक और साध्य के बीच एक स्वत्व और ममत्व वाला भक्ति-भाव होने को अवकाश है। अभिलाषा वाली स्थिति वही है। अभिलाषा शब्द स्थूल लगे, तो अभीप्सा कह लो, भक्ति कहो या शरणागत भाव कहो। शब्द पर हमे अटकना नहीं है, भाव को पहिचान लेना है।

प्रश्न—आपका तात्पर्य क्या यह है कि केवल अभीप्सा ही साधना मे सहायक है, बुद्धि साधना मे बाधक होती है, इसलिए निर्बुद्धि के लिए साधना अधिक सुलभ होगी?

उत्तर—बुद्धि मिलने पर निर्बुद्धि बन सकना पूरे तौर पर सम्भव ही नही है। इसलिए जिन्हे निर्बुद्धि कहा जाता है असल मे वे सिर्फ जड़-बुद्धि ही होते हैं। चैतन्य साधना मे जडता भला कैसे सहायक हो सकती है। इसलिए निर्बुद्धि बनने का प्रयत्न और प्रश्न व्यर्थ है। बुद्धि को सत्

और सयत बनाना ही एक उपाय है।

प्रश्न—सत् और संयत कैसे बनाया जा सकता है?

उत्तर—सत् और सयत शब्दो मे ही है कि असत् और असयत होने की ओर भी बुद्धि मे प्रवृत्ति है। असत् के अस्वीकार मे नियुक्त करके और असयम में न बहने देकर बुद्धि को सत् और सयत रखा जा सकता है।

प्रश्न—सत् और असत् की पहिचान क्या बुद्धि द्वारा हो नहीं होगी।

उत्तर—नहीं, वह पहिचान उससे भी गहरे मे पड़ी हुई है। यानि बुद्धि द्वारा न वह होती है, न समाप्त होती है। वह तो मानो आत्मगत है। वह सबको सहज प्राप्त है। अन्तर्नाद अन्तर्ध्वनि जिसे कहते हैं, वह वही चीज है। वही श्रद्धा का निवास है।

प्रश्न—तो फिर सत् की शोध मे बुद्धि का कुछ सहयोग ही नहीं है क्या? वह क्या एक निरर्थक-सी चीज है जिससे केवल खतरे की ही सम्भावना रहती है?

उत्तर—जो है, साधना मे सहयोग उस सभी का है। खतरा तो सिर्फ मूल्य का प्रमाण है। खतरा है, इसीलिए उसमें क्षमता है। श्रद्धा अन्त मे विवेक द्वारा अपने को प्रगट करती है। विवेक बुद्धि के बिना चल ही कैसे सकता है। इसलिए उसका उपयोग पग-पग पर निरन्तर आवश्यक है। इसीलिए खतरा भी सतत है, और हर कदम पर है। अहकृत होते ही बुद्धि अभिशाप बन जाती है, श्रद्धार्पित बुद्धि वरदान है।

प्रश्न—बुद्धि और भावना के सम्बन्ध मे क्या आपकी यह मान्यता है कि बुद्धिसत्ता के दबाव से भावना अवरुद्ध होने लगती है और भावनाशील बुद्धि को संयत नही रख पाता, इसलिए अत्यन्त भावना और अत्यन्त बुद्धि दोनो ही खतरनाक है?

उत्तर—दोनो मे कुछ असन्तुलन है तभी तक व्यक्तिरूप यह जीवन है

और ससार है। दोनो के समीचीन और सर्वथा समीकरण की अवस्था को मुक्ति मानना चाहिए। अर्थात् हम सब मे दोनों की तरतमता ही रहती है। शायद पहले भी मैंने तुम्हे कहा है कि आदर्श अर्धनारीश्वर है। यानि वहाँ पुरुष-स्त्री भिन्न नही वल्कि एक मे ही समाहित हैं। इसलिए मानव जाति के स्थायी रूप से जो आराध्य पुरुष बने वे वे हैं जिनमे पुरुषोचित के साथ स्त्रियोचित गुण भी पूरे थे। वह कठोर थे वज्र की तरह, तो कोमल भी थे कुसुम की भाँति। दृत तेज उनमे था तो स्निग्ध आर्द्रता भी। दूसरे प्रकार के भी पराक्रमी (Heroic) पुरुष इतिहास मे मिलते हैं, उनके विक्रम, शौर्य और पराक्रम की गाथाओ पर विस्मय-विमुग्ध हो जाना पड़ता है। पर पौरुष उनमे इतना था कि स्त्रीत्व बिलकुल न था। परिणाम यह कि स्त्री उनके लिए चुनौती बन रही और उसके समक्ष वे विवश और पराजित रहे। यही बात स्त्री की ओर भी घटाकर देखी जा सकती है। मात्रा से अधिक सलज्ज और सहायापेक्षी स्त्रियाँ बहुधा ऐसो के हाथ गिरती हैं जिनमे संस्कारिता उन्नत नही और दैहिकता ही प्रबल है। हम जान ले कि स्त्री और पुरुष तत्त्वो मे एक अमोघ आकर्षण है, उसको सवर्षण कहो तो भी वही बात है। अब ये दो तत्व अपनी शुद्धता मे तो कही विद्यमान ही नही हैं। सब कोई दोनो के न्यूनाधिक मेल से बने हैं। इसीलिए संसार चलता है और चित्र-विचित्र लीला छटा फैलाकर यहाँ मुखरित रहती है। भावना और बुद्धि मूलतः विरोधी होकर तो हो ही नहीं सकती थी, उद्गम दोनो का एक मे से है। पर हाँ, उनमे तनाव और तारतम्य न्यूनाधिक बना ही रहता है और वही असल मे हमारी जीवनानुभूति की भूमिका है। अन्यथा शुद्ध-जीवन जो सच्चिदानन्द-स्वरूप है, वह तो हमे अगोचर और अतीत ही रहता है।

संयम और सन्तति

प्रश्न—भावना और बुद्धि के असन्तुलन के कारण ही क्या मर्यादा-हीन प्रेम-सम्बन्ध बनाने और तोडते रहने को व्यक्ति विवश होता है ?

उत्तर—मर्यादा अधिकाश समाजिक कर्तव्य मे से आती है। किन्तु व्यक्ति सामाजिक होकर समास नही है, वह आत्मिक भी है। इस कारण प्रेम और मर्यादा मे किंचित् सघर्ष अनिवार्य तया चलता ही है। भावना और बुद्धि का सन्तुलन सौ फी सदी सिद्ध हो जाय तो भव-बाधा ही मिट जाय। अर्थात् यह साधना तो चिरन्तन-ही है। समाधान प्रेम की पूर्णता मे है। वहाँ द्वैत नही रहता, याने भाव से बुद्धि अलग नही रहती और आनन्द से मर्यादा दूर नही हो पाती। पर उस स्थिति की चर्चा भी कैसे की जाय। कल्पना तक मे उसे बाँधना मुश्किल होता है। चर्चा मे द्वैतावस्था ही आती है। वहाँ द्वन्द और सघर्ष रहता है। शायद यह होने की शर्त है, उसकी पद्धति है।

प्रश्न—क्या आपका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति मे जितनी प्रेम के मामले मे स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति दीखती है उतने ही अश तक उसके प्रेम की परिपूर्णता के अभाव की द्योतक है।

उत्तर—हाँ, छलकना अधभर होने का लक्षण है। ऊपर दीखने वाली स्वच्छन्दता जरूर प्रेम की परिपूर्णता के अभाव को दर्शाने वाली कही जा सकती है। परिपूर्ण प्रेम रूढ विधि-विधान को ओढकर निष्क्रिय बैठा रह

जायगा, यह कहना भी कठिन है। उसमे प्रखरता होगी, एक प्रकार की क्रान्तिकारिता होगी। लेकिन प्रचलित अर्थ मे उसे स्वच्छन्द नही कहा जा सकेगा। ऐसे प्रेम का उदाहरण यदि पुरानी मर्यादाओ का अतिक्रमण करता है तो नई मर्यादाओ की सृष्टि करता है।

प्रश्न—ऐसी प्रेमवृत्ति को प्राप्त करने के लिए क्या व्यक्ति को किसी के प्रति बढ़ती हुई भावनाओं को छलकने से रोकते रहना चाहिए ?

उत्तर—हॉ, सामान्य भाषा मे ऐसा करते रहना चाहिए। पर 'रोकना' शब्द कुछ नकारात्मक है। प्रेम की गम्भीरता मे से यह रोकना ऊपर से अकुश रूप मे नही आता, भीतर से किसी अपने ही नियम से सधता चला जाता है। सघन प्रेम मुखर नहीं होता, आग्रही नही हो पाता। मुखर और आग्रही नही होना चाहिए ऐसा अलग से उसे याद रखने की आवश्यकता नही होती, प्रेम की सघनता मे से यह फल आप ही प्राप्त होता है। संयम स्वय प्रेम मे से निस्सृत होता है, उसके ऊपर आरोपित नही होता। जो ऊपर से आरोपित होता है, उस संयम की उपयोगिता के बारे मे मैं निःशंक नही हूँ। वह उतना ही अनुपयोगी हो जाता हो तो मुझे विस्मय न होगा।

प्रश्न—किसी सम्बन्ध मे प्रेम प्रारम्भ से ही सघन तो होता नहीं जो संयम स्वयं ही सध जाया करे। हॉ, सिद्धान्त रूप से व्यक्ति प्रेम की सघनता को आदर्श मानकर अपने को रोकने की चेष्टा कर सकता है। क्या आप ऐसी चेष्टा के लिए स्वीकृति देंगे ?

उत्तर—हॉ, वह चेष्टा तो अनिवार्य ही है। विवेक का आधार क्या है ? वह स्वयं व्यापक प्रेम ही तो है। इस तरह बुद्धिपूर्वक कर्तव्य-भावना से विवेक का अकुश लेकर संयम साधने की चेष्टा चलती हो तो इसे अनिष्ट भी नही कहा जा सकता। उसका विरोध मैं नही करता। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि इस सब प्रयत्न का आधार स्वयं प्रेम ही है। इसलिए समर्पण

सयम से भी बडा धर्म है। भक्ति मे जो समर्पित हो रहता है सयम उसे सहज होता है और सयम का अभिमान उसके पास भी नही फटक पाता। यह पद्धति मुझे अधिक सम्पूर्ण और सफल लगती है।

प्रश्न—आप कहते है कि प्रेम से समर्पण की भावना उद्भूत होनी चाहिए और समर्पण मे सयम स्वयं आ जाता है। ऐसे प्रेम की आप क्या परिभाषा देते है? क्या प्रेम के परिणाम से अपने लिए भय खाना स्वार्थ व दूसरे के लिए भय खाना आदर्श प्रेम का उदाहरण कहा जायगा?

उत्तर—प्रेम मे भय को स्थान नही है।

प्रश्न—फिर वह दूसरे के लिए किस रूप मे अनुभव होगा जिससे से संयम स्वयमेव सध जायगा?

उत्तर—कहा तो कि वह आग्रही और भोगाकाक्षी नही होगा। पर वह तो प्रेम की चरम और आदर्श अवस्था है। उसका रूप ब्रह्मचर्य है। उसे व्यक्ति-परक और कामुक होने को अवकाश नही है। वह अनायास मर्यादा-शील होता है, किसी भय के कारण नही। शायद इस प्रेम को तुम मानवोत्तर समझती हो, मैं वैसा नही मानता। लेकिन हॉ मानव मे काम भी है, कामना भी है। उससे उलझन पड़ती है। उसमे आग्रह है और स्वत्वाधिकार की चाहना है। उससे खीच-तान पैदा होती है। उसके लिए वर्जन और निषेध की आवश्यकता होती है, उनसे फिर भय की सृष्टि होती है। तो हॉ उस सम्बन्ध मे तुम क्या कहना चाहती हो?

प्रश्न—अवश्य साधारण मनुष्य की समस्या का यही रूप है। इस खींच-तान मे से सफलतापूर्वक निकलने का क्या मार्ग है? प्रेमिका अथवा प्रेमी का सर्वथा आत्म-समर्पण या सयम? यही मैं पूछना चाहती हूँ।

उत्तर—उत्तीर्णता का मार्ग तो भगवत्प्रेम है। काम की अन्य कठिनाइयो

मे से भी एक उसी के सहारे त्राण मिल सकता है। दो व्यक्तियों का मैथुनी प्रेम केवल उन दो (मिथुन) की अपेक्षा से कभी समाधान तक नही पहुँच सकता। ऐसी जगह प्रणय और कलह दोनो साथ चलते हैं। एक का अन्त दूसरे से हो नही सकता, यद्यपि तात्कालिक रूप से इसी मे समाधान दे पाया जाता है। दो के भोग-सम्बन्ध मे से कलह उपजती है और उस समय आपसी द्वेष और घृणा इतने तीव्र और उत्कट हो जाते है जैसे सदा के लिए प्रणय-भाव समाप्त हो गया हो। लेकिन अगले ही क्षण दोनों परस्पर गाढालिगन मे अपने को बँधा पा सकते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण को एक तरफ करके मुझे नही प्रतीत होता कि अश आपस मे पैदा हुई उलझनो को पूरी तरह सुलझा सकते हैं। यानी ऐसी कठिनाई में आदमी को दूसरे पर से अपना दावा हटाकर स्वय अपने कर्तव्य का निर्णय करके उस पर आरूढ हो जाना चाहिए। इसी मे से समाधान निकलेगा और वही स्थायी होगा।

प्रश्न—यदि आनन्द और भोग की आकांक्षा इतनी प्रबल हो कि छलकने की आशंका प्रतिपल रहती हो तब प्रेमपात्र को अपने से बिलकुल दूर कर देने को क्या आप आवश्यक कहेगे ?

उत्तर—अनिवार्यतः नही। मै तो कहूँगा कि झूठ का आश्रय कभी न लिया जाय। बस आचरण में झूठ न आए, ऐसे वर्तन करना चाहिए। इसमे दोनो ही सम्भावनाएँ हैं। प्रेम-पात्र को समीप लेना, अथवा कि दूर रखना, दोनो ही एक-सी ठीक और गलत हो सकती हैं। यह प्रश्न अपने निज के निर्णय का है। अपनी ओर से तो झूठ को आश्रय न देना, यही स्वर्ण नियम मैं दे सकता हूँ।

प्रश्न—झूठ का आश्रय लेना ही आवश्यक नहीं है, दोनों स्वयं मे ऐसा निर्णय लेकर एक-दूसरे से स्वीकार करा ले और फिर अलग रहे, आप इस ढंग को उचित मानेगे ?

उत्तर—उचित हो भी सकता है।

प्रश्न—पर दूर रहने तक तो अपना वश चलता है, मन पर यदि वश न चले और वह उधर ही चंचल रहा करे तो यह दमन की स्थिति अस्वास्थ्यकर न होगी ?

उत्तर—इसीलिए तो मैंने उत्तर मे 'भी' लगाया था। दमन अस्वास्थ्यकर वही होता है जहाँ झूठ मिल जाता है, नही तो उसे तप कहते हैं। और तप मे से तेज सिद्ध होता है। दमन मे झूठ मिलने का मतलब यह कि जब उसमे आनन्द की मात्रा कम और निषेध की अधिक हो जाती है। तब हमको ईमानदारी के साथ अपनी हार स्वीकार करनी चाहिए। उस वक्त इस प्रकार कायादमन के आग्रह पर अड़े रहने से लाभ की बजाय हानि अधिक होगी। इसका निर्णय दूसरा नही कर सकता। तनिक भी भय हो तो मान लेना चाहिए कि इस सयम मे झूठ का मेल हो गया है। सयम जब तक निर्भीक है, स्वाश्रयी है, आन्तरिक आनन्द का भाव उसमे है, तब तक वह बल देने वाला है। इस सयम के साथ एक विनम्रता होती है। दूसरे प्रकार मे अहकार और दिखावा हो सकता है और उसमे अपने साथ ही किये जाने वाले, और इस प्रकार दूसरे के प्रति होने वाले, छल का समावेश जाता है। यह प्रकार अनिष्ट है और इस पद्धति से साधी गई काया की पवित्रता कोई स्पृहणीय वस्तु नही है।

प्रश्न—हठपूर्वक कायादमन का जब आप इतना विरोध करते है तब ऐसी कठिनाई उपस्थित होने पर काया की पवित्रता रखना आप उचित नहीं कहते। तब एक अविवाहित व्यक्ति जिसे अपने माता-पिता की स्वीकृति मिलने की आशा नहीं है, अथवा विवाहित व्यक्ति जिसे अपनी पत्नी अथवा पति के प्रति विश्वासघात का डर है, क्या करे ? क्या आप निरोध के साधन प्रयोग मे लाने की सलाह देंगे जिससे सामाजिक उलझन न पैदा हो ?

उत्तर—यानि भोग-सम्बन्ध तो रहे, और उसके प्रगट होने का अवसर न आए ? ऐसी सुविधा अपनाने के बारे मे क्या कहूँगा, क्या यह प्रश्न है

तुम्हारा ?

प्रश्न—हाँ कुछ ऐसा ही है।

उत्तर—तो निश्चय ही मै उसका समर्थन नहीं करूँगा। क्योंकि वह कपट का समर्थन है।

प्रश्न—तब आप ऐसी परिस्थिति से क्या निराकरण बतायेंगे ? व्यक्ति अपने माता-पिता के विरोध मे, अपनी पत्नी के विरोध मे, अपने प्रेम-पात्र को विवाह द्वारा स्वीकार करके जीवन चलाए ? वैवाहिक-जीवन मे निरोध-साधन के प्रयोग को भी क्या आप कपट ही कहेगे ?

उत्तर—विद्रोह किया जा सकता है। सम्बन्ध का विच्छेद किया जा सकता है। पर कपट को बढावा नहीं दिया जा सकता।

विवाहित जीवन मे सन्तति-नियमन या निरोध का प्रश्न दूसरा है। तुम्हारा मतलब कृत्रिम साधनो से है। स्वेच्छित सयम से साधे गए। सन्तति-निरोध को क्या कहा जाय, क्या भला उसको भी अनिष्ट कहा जायगा ? मैं किंतु कृत्रिम नियमन के प्रचार के हक में नहीं हूँ। कभी उसके उपयोग की सलाह व्यक्तिगत उदाहरणो मे दी जा सकती है। लेकिन उसके व्यापक प्रचार और अवलम्बन से मै भलाई की आशा नही रखता जितना बुराई का डर पाता हूँ।

प्रश्न—व्यापक प्रचार मे आपको भलाई की अपेक्षा क्या बुराई अधिक दीख पड़ रही है ?

उत्तर—रोग का उपचार हो सकता है, प्रचार नही हो सकता। उपचार के तौर पर उसके उपयोग मे हर्ज नही, लेकिन प्रचार का मतलब भोगाचार का प्रचार हो जाता है। उससे हानि ही अधिक है। उससे हानि-ही-हानि है, लाभ मुझे दीखता नहीं। अब भी इन साधनो का प्रचलन सम्पन्न वर्ग मे है, जहाँ सन्तति की संख्या पर्याप्त से कम है। जिस वर्ग के

पास साधन है, स्वास्थ्य है, रूप-निपुणता है। उससे बल्कि समाज को सुन्दर और स्वस्थ सन्तति की अपेक्षा हो सकती है। यही वर्ग है जो इन साधनों के सहारे दायित्व से विमुख होता है और निष्फल उपभोग में प्रवृत्त होता है। इससे प्रजनन के अर्थों पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, केवल नैतिक स्तर नीचे आता है। यह परिणाम हम स्पष्ट देख रहे हैं। इसलिए उसके व्यापक प्रचार का पक्ष मैं कैसे ले सकता हूँ ?

प्रश्न—प्रचार तो उन लोगों की सुविधा के लिए ही किया जा रहा है जो बढ़ती हुई सन्तति का बोझ उठाने में असमर्थ हैं। ऐसे लोगों को क्या आप कृत्रिम साधनों के उपयोग की सलाह न देंगे ?

उत्तर—कुछ परिवारों को ऐसी सलाह दी जा सकती है, लेकिन रोगो-पचार की दृष्टि से। लोक नेता प्रचार करें अथवा कि सरकारें उसकी व्यवस्था करने चलें, यह मैं ठीक नहीं समझता। गरीब लोगों में प्रजनन की औसत अधिक है, इसमें क्या उनकी गरीबी भी कारण नहीं है ? गरीबी के कारण उनका जीवन घुटा, घिरा और तरह-तरह के अभावों की जकड़ से बँधा है। मनोविनोद के उनके पास रास्ते नहीं हैं, एक उपभोग ही उनके लिए बच रहता है। उस गरीबी के मुख्य प्रश्न से हम बच निकलें और कृत्रिम साधनों में सोचें कि बढ़ती हुई जनसंख्या का समाधान हो जायगा तो यह बुद्धि का छल है। जनसंख्या का प्रश्न व्यवस्था का है। सुव्यवस्थित अवस्था में देश की जनसंख्या उसकी ताकत है। व्यवस्था हो ही नहीं, या विषम हो, तो वह बढ़ी हुई जनसंख्या मुसीबत भी हो जाती है। हर आदमी के पेट एक है मगर हाथ दो हैं। इस तरह वह ऋण नहीं है धन है। लेकिन हमारी समाज व्यवस्था दूषित हो तो वही ऋण हो जा सकता है। और जो आदमी पैदा करने वाला होकर सहायक हो सकता था, निरा खाने वाला रहकर बोझ और बाधक बन जाता है। कुछ वही पराजय की दृष्टि है जो बढ़ती हुई जनसंख्या को इस तरह देखकर कृत्रिम निरोधों में अपना त्राण ढूँढती है। एक विशेष

प्रकार की सभ्यता उसी ओर मुँह करके चलती आई है। उसके विचार करने की पद्धति मे दोष समाया हैं। वह पदार्थ को प्रमुखता देती और तद-नुसार मनुष्य का नियोजन करना चाहती है। इतना हमारे पास अनाज है और इतने पेट है—अब इसलिए कि एक पेट को ज्यादा अनाज मिले आवश्यक है कुछ पेट कम कर दिए जायँ। इस प्रकार के आंकिक गणित से काम चला कर हम जीवन-मान को जब ऊँचा चढ़ाते है तब उसी अश मे मानव नीचा गिर जाता है। पैसा जो पदार्थ का द्योतक है उसकी कीमत उठती है और मानव की कीमत गिरती है। आज कुछ हम उसी हालत मे आ पडे है। उस मे किसी को चैन नही है। सब परेशान हैं और समस्याएँ बढती जाती है। आवश्यकता है कि मूल से हमारा चिन्तन बदले। वह आंकिक से हार्दिक हो। वह चीजो के हिसाब के नीचे आदमी को न ले बल्कि आदमी को प्रमुखता दे। योजनाएँ हमारी इस अपेक्षा से बने कि हर आदमी उत्साह पाए और काम करने मे लग जाय। पैंतीस करोड आदमी उत्साह मे भरकर उत्पादक काम मे जुट जायँ तो क्या कुछ परिणाम नही आ सकता? लेकिन मशीनो के जोर से हम चीजे बनाते है और लाखो-करोडो की संख्या मे आद-मियो को निठल्ला और बेकार पडा रहने देते हैं, तो यह अवस्था कभी खुशहाली नहीं ला सकती। चीजो के ढेर लग जायँगे, मकान ऊँचे-से-ऊँचे होने लगेगे, मोटरे अनगिनत हो जायँगी, जगमगाहट काफी दीख सकेगी, लेकिन यह हालत चैन की नहीं होगी। आदमी चिन्तित और दुखी और परेशान होगा। जरूरी है कि आदमी को केन्द्र मे रखकर हमारा चिन्तन चले और सब-योज-नाएँ भी उसी मे से बने। सन्तति-नियमन और निरोध के व्यापक आलम्बन की बात पहले प्रकार के चिन्तन को सूझना अनिवार्य ही है, लेकिन वह घोडे के आगे गाड़ी को रखकर चलाना चाहता है। ऐसे उसका सारा हिसाब सही रहकर भी नतीजा हमेशा गलत आता है। दृष्टि को मूल से हम फेर दे तो समाधान उस तरफ दिखाई नही देगा, बल्कि वह बहुत-कुछ भ्रात दीख

आयगा और जिसको तुम बोझ बना हुआ देखती हो वही देश के बच्चे दोनों हाथों को लेकर काम में लग जायँगे और उपयोगी नागरिक बने दिखाई देंगे। हाथ निकम्मे रहेंगे तो उनके पेट का डर बढ़ता ही जायगा और तब मैं कहता हूँ कि उनके पेट भरने की समस्या भी सचमुच किसी तरह हल नहीं हो पायगी। तब दीखेगा कि जैसे-तैसे काट-कूटकर कुछ पेटों को हमेशा के लिए खत्म कर देना ही एक उपाय है। लेकिन निश्चय ही वह उपाय नहीं है, वह आदमी की हार है। आदमी के प्रेम की हार है, और उसकी हिंसा की जीत है। मुझे निश्चय है कि हम मनुजों का विकास उस तरफ नहीं है, वह समता और सहयोग के संवर्धन की तरफ है, जहाँ किसी को कम न किया जाय बल्कि सब को समर्थ और उपयोगी बनने दिया जाय।

प्रश्न—आपने व्यवस्था के दोष की बात कही। व्यवस्था पर तो व्यक्ति का वश नहीं है। जब तक व्यवस्था ऐसी है तब तक व्यक्ति की समस्या का रूप यही रहेगा। स्वेच्छित संयम उस हद तक भी सम्भव नहीं देखा जाता कि दो-तीन सन्तानों के बाद ब्रह्मचर्य रखा जा सके, और सन्तति बढ़ाते जाने से न केवल माता-पिता पर बोझ पड़ता है बल्कि बच्चों की उचित सभाल न हो पाने से बच्चों का भी समुचित शारीरिक, मानसिक पोषण नहीं हो पाता। तब फिर कृत्रिम साधनों के अतिरिक्त इस स्थिति से उद्धार का और उपाय ही क्या है?

उत्तर—व्यक्तिगत को व्यक्तिगत ही रहने दो। यानि किन्हीं विशेष को उस तरह की सलाह दी जा सकती है; यह मैं पहले ही कह चुका हूँ। लेकिन दृष्टि हमको अपनी स्पष्ट कर लेनी चाहिए। तब जिसके औपचारिक उपयोग को अवकाश दिया गया उसके प्रचार का आग्रह हमें नहीं रहेगा। कृत्रिम तरीके से हम अपनी असली सामाजिक व्याधि का मुकाबला करने से बच निकलते इसमें हैं, असली हित नहीं है। समाज-व्यवस्था के नीचे व्यक्ति

विवश है, यह कुछ हद तक तो ठीक है, लेकिन क्या समाज-व्यवस्था कभी आप ही बदलने मे आ जायगी ? वह भी व्यक्तियो के प्रयत्न से ही सभव होगा। इसलिए समाज की वर्तमान व्यवस्था को दूषित मानते हुए भी उसके नीचे चुपचाप बैठ रहना नहीं होगा। तब हम देखेंगे कि हमारे कृत्रिम निरोध के उपयोग द्वारा अमुक परिवार को तात्कालिक राहत देने से बड़ा सवाल हमारे सामने है। दान-पुण्य के काम जैसे चलते रहते हैं और उनके पीछे व्यक्तिगत प्रेरणा रहती है, समाज-विचारक वैसे दान-पुण्य की बात का ही प्रचार करके सतोष नहीं मान सकता। बल्कि एक जगह वह बात निरर्थक और अनर्थक हो जाती है। इसी तरह इस कृत्रिम निरोध की बात को समझो। सामाजिक चिन्तन की प्रेरणा उसके पीछे नहीं हो सकती। व्यक्तिगत प्रेरणा से ही कहीं-कहीं उसका समर्थन किया जा सकता है। सयम सदा सब के वश की वस्तु हो सकती है और वही वस्तु है जो व्यक्तियो मे सामाजिकता लाएगी और उनमे मर्यादा-पालन का भाव पैदा करेगी। अन्यथा समाज विच्छिन्न होगा और व्यक्तियो के बीच भोगाचार और अनाचार की अनियमितता फैल चलेगी।

तुमने बालको की उचित शिक्षादि की बात कही। वह बोझ परिवार के प्रमुख का समझा जाता है। लेकिन अब जीवन फैल रहा है और घना होता जा रहा है। अब पारिवारिक की जगह सामाजिक चिन्तन लेगा और ले रहा है। एक गरीब है तो उसका जिम्मा उसके पूर्व जन्म के पाप पर डालकर चुप बैठना सम्भव नहीं है। जैसे इस दायित्व से अब दूसरे लोग भी बरी नहीं समझे जा सकते। बालको को उचित पालन और शिक्षण मिले यह दायित्व अब फैलकर बँट रहा है, यानि वह सब पर आता जा रहा है। स्टेट इस दायित्व से नहीं बच सकती और आशा है जल्दी वह व्यवस्था होगी जब शिक्षा का सम्बन्ध फीस और वेतन से उतना जुड़ा हुआ न दिखाई दे। परिवार के दायरे मे सोचने से सोचने की पद्धति मे भूल समा जाती है। इसीलिए पैसे

के और कमाई के परिमाण की अपेक्षा मे अपने समूचे कर्तव्याकर्तव्य का हम निर्णय किया करते हैं। लेकिन अर्थ-शक्ति और अर्थ-व्यवस्था का इस समय गहरा परीक्षण और विश्लेषण हो रहा है। पारिवारिक आमदनी का परिमाण अब हमारी दृष्टि के लिए अन्तिम घेरा नहीं है। इसलिए अमुक परिवार के बच्चो की अमुक सख्या और कम आय होने के तर्क से ही इस प्रश्न का सम्पूर्ण निर्णय करना सही नही होगा। व्यक्तिगत आय और कुनबे की दृष्टि से इन उपायो की अवलम्बन अनिवार्य्य जान पडे तो भले ही कर लिया जाय। इससे ज्यादा उसे महत्व और स्वीकारता देना मेरी समझ से गलत ही नही, वरन् असामाजिक होगा।

प्रश्न—सतति नियमन की समस्या व्यक्ति ही की नहीं है। करीब-करीब सारे परिवार ही इसमे आ जाते है। आजकल लगभग प्रत्येक परिवार मे स्त्री को अर्थोपार्जन द्वारा पति की सहायता करना आवश्यक दीखता है। सतति वृद्धि से उसके काम मे बाधा पड़ेगी।

उत्तर—ठीक यही बात है। समस्या आर्थिक है। उसी को परिवार की सीमा मे सोचते है तो वह आमदनी बढाने और खर्च घटाने की हो जाती है। इस रूप मे उस पर विचार करने से सारी असामाजिक प्रवृत्तियो को समर्थन मिल सकता है। चोर बाजारी, रिश्वतखोरी, नफाखोरी आदि परिवार के निमित्त से ही की जाती है। इसलिए वर्तमान अवस्था मे आमूल परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। जहाँ हरएक को हर समय अपनी कमाई बढाने की फिक्र लगी रहती है उस समाज मे सहयोग नही पनपेगा, सघर्ष ही बढेगा। समाज वह चाहिए वहाँ व्यक्ति का ध्यान अपने काम पर हो और उसमे से सहयोग भाव से उसको यथेष्ट भरण-पोषण मिल जाय, सिक्के से वह खरीदकर लिया जाने वाला हो तो यथेष्ट सिक्का मिल जाये। हमारा चिन्तन यदि उस तरफ न देखे और परिवार का खर्च घटाने के लिए उसे कृत्रिम गर्भ-निरोध के साधन

बतादे और आय बढाने के लिए रिश्वत और काला-बाजार की इजाजत दे दे, तो मैं यही कहूँगा कि वह दुर्बल चिंतन है। क्या बहुत से परिवार इस रास्ते अपनी तात्कालिक मुसीबतो का हल नही प्राप्त कर ले रहे हैं ? इस तरह वह शायद अपने लिए संपन्नता और प्रतिष्ठा भी जुटा लेते हों, पर इस ऊपरी सफलता के बावजूद उस पद्धति का समर्थन नहीं किया जा सकता। व्याधि व्यापक है, इसलिए गहरे निदान मे जाने की आवश्यकता है। कृत्रिम निरोध लगे हाथ सूझने वाला उपाय है, उसमे सही निदान नहीं है। न वहाँ कोई स्थिर समाधान है।

प्रश्न—बहुत से परिवारों मे तो जीविका के लिए ही स्त्रियों को आर्थिक उपार्जन मे सहायता देनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त स्त्रियों मे तरह-तरह के कामों के लिए प्रतिभा व रुचि होती है—कला मे, साहित्य मे, शिक्षा मे, सगीत इत्यादि मे। संतति-वृद्धि से वह अपनी प्रतिभा के विकास के लिये अवकाश कैसे पा सकेगी ?

उत्तर—उल्टे मेरा यह सोचना है कि आर्थिक दबाव से मुक्त होकर ही स्वाभाविक प्रतिभा के विकास का उन्हे अवसर होगा और इस तरह से संतति स्वयं नियमित हो जायगी। सृजनात्मक शक्ति के लिये आज अन्यान्य क्षेत्र बन्द हैं, यह भी कारण है कि संतति अधिक होती है। शक्तियो को तरह-तरह के रचनात्मक कामो मे लगे रहने का अवसर प्राप्त हो तो हम देखेंगे कि यह समस्या अपने-आप खुलने लग जाती है।

प्रश्न—मैंने यह देखा है कि अधिकतर विवाह के योग्य अवस्था वाले लड़के व लड़कियाँ विवाह से यह भय खाते है कि विवाहोपरान्त सन्तति-वृद्धि मे उलझकर उनकी विशेष रुचियों एव प्रतिभाओं का विकास रुक जायगा। इस भय के उपचार रूप मे क्यों संतति निरोध से सहायता लेनी उचित न होगी ?

उत्तर—भय तो यह है। शादी होते ही कमाई के हिसाब के चक्कर मे

पड जाना पडता है। वह चक्कर हार्दिक जीवन के लिये अवकाश नही छोड़ता। मेरी धारणा है कि विवाह के अनन्तर यदि दम्पति हार्दिक भाव से रहने का अवसर पाए और मन की गहरी आकांक्षाओ को दबाने के लिए विवश न हो तो उनके जीवन मे ,एक ऐसा सामाजिक और रचनात्मक पहलू विकसित हो आए जिसके कारण अनायास भाव से गृहस्थी का झमेला इतना उनके चारो ओर न जुटे और न चिपटे। पर ऐसा हो कहॉ पाता है ? कमाई का कोल्हू उन्हे छोडता नही। नतीजा होता है कि उनकी सहानुभूति और उपभोग-शक्ति परिवार मे और इन्द्रियो मे सीमित हो जाती है। वह उट और फैल नहीं पाती। ऐसे बच्चे बढते हैं और बन्धन बढता है। किन्तु मैं समझता हूँ कि प्रश्न को इस बन्धन की स्थिति से आरम्भ हुआ देखना गलत है। यह तो अन्त का सिरा है, शुरू आरम्भ के सिरे से होना चाहिये। सयम और सृजनात्मक जीवन आर्थिक जकड को तोडने मे मदद देगा। और तब यह कृत्रिम समस्या पैदा ही न होगी जो कृत्रिम उपायो के अवलम्बन की की बात सुझाए।

प्रश्न—परन्तु देश की व्यवस्था से अत्यन्त असतोष होने के कारण व्यक्ति पर परिस्थितियो की मॉग बहुत बढ गई है। यहॉ तक कि वह सतति के पालन-पोषण मे अपनी शक्ति बिलकुल व्यय न करके सम्पूर्ण शक्ति देश की व्यवस्था-सुधार के अर्थ लगा देना चाहता है। ऐसी दशा मे क्या कृत्रिम उपायो का अवलम्बन उचित न होगा ?

उत्तर—वह कैसी देश की लगन और देश का प्रेम है जो सामान्य सयम को सम्भव नहीं होने दे सकता ? हर तरह की भोग की छुट्टी लेकर जो देश-प्रेम और देशोद्धार किया जाता है वह निरी राजनीति रचता है, देश का भला उससे कुछ नही हो सकता।

प्रश्न—इसका तात्पर्य क्या यह हुआ कि जो इस विषय मे पूर्ण

संयम न साध सकें उनसे देश की सेवा नहीं हो सकती और न उन्हें करनी चाहिये ?

उत्तर—नहीं, मतलब यह हुआ कि कृत्रिम संयम अपना कर चलने की आवश्यकता नहीं। अकृत्रिम संयम जिस मात्रा में भी हो उसको रखकर भी वह देश के काम आ सकता है।

प्रश्न—आपने कहा था कि व्यक्ति-विशेष को कृत्रिम उपाय प्रयुक्त करने की छूट दी जा सकती है। क्या ऐसे व्यक्ति को वह छूट प्राप्त हो सकती है ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—तो वह छूट आप किस प्रकार की स्थिति में देना स्वीकार करेंगे ?

उत्तर—आर्थिक विवशता, स्वास्थ्य-सम्बन्धी असमर्थता आदि।

आर्थिक सभ्यता में नारी की स्थिति

प्रश्न—प्रेम को आप सामाजिक मर्यादा के अन्तर्गत मानते है। इसका तात्पर्य क्या वही शास्त्रों की परम्परा का स्त्री धर्म है जिसके अनुसार पति चाहे जैसा भी हो, उसे उसी को देवता मानकर पूजना चाहिए ?

उत्तर—नही, प्रेम सामाजिक मर्यादा के अन्तर्गत नही है। व्यक्ति अवश्य सामाजिक है और उस पर समाज की मर्यादाओ का भी लागू होना सगत है। इस तरह प्रेम मे समाज की मर्यादा का अतिक्रमण भी दीख सकता है, फिर भी हो सकता है कि ऐसा व्यक्ति कालान्तर मे समाज के लिए लाछनीय नही प्रस्तुत पूजनीय पुरुष माना जाय। उदाहरण के लिए बुद्ध को ही लो। मर्यादा के अनुसार नवीन वय की पत्नी और नन्हे बच्चे को छोड़ जाने का उन्हे हक न आता था। लेकिन क्या वह एक प्रकार की प्रेम की, सहानुभूति की, प्रेरणा ही न थी जिसने उन्हे सब छोडने को बाध्य किया ? इस उदाहरण मे मर्यादा का अतिक्रमण है, फिर भी वह अनुपादेय नही है।

इस तरह समाज की मर्यादाएँ अन्तिम वस्तु नही है। उन्हे स्वय आगे बढना है। अपनी चिन्ता न करते हुए सहानुभूति की भावना और सत्य की अभीप्सा मे जो लोग उन मर्यादाओ से आगे भी निकल जाते है, वे, कहा जा सकता है, मर्यादाएँ तोड़ते उतनी नही हैं जितनी उनकी स्थापना करते हैं। उनके कारण समाज और उसकी सीमाएँ स्वय आगे बढती हैं।

पति नाम का व्यक्ति देवता तो कभी होता नहीं, फिर कितना भी गुणी

एवं रूपवान वह क्यों न हो। व्यक्ति देवता होता नहीं, माना ही जा सकता है। उस मानने में सदा ही जोर पडता है। उसके लिए अभ्यास और साधना की आवश्यकता होती है। अतः सतीत्व सदा ही यत्न साध्य है, सहज वह कभी भी नहीं है। इस तरह सतीत्व बोझ भी बन सकता है, वही धर्म भी बन सकता है। श्रद्धा नही है तो वह मुसीबत है ही। श्रद्धा हो तो वह उत्कर्ष-साधना का मार्ग है।

हॉ, मैं उस स्त्री की पूजा करूँगा जो कैसे भी व्यक्ति को पतिरूप में पाती और उसे देवता मानकर कभी भी पतिव्रत भाव से विमुख नहीं होती है। लेकिन कोई स्त्री ऐसा न कर सके तो सहसा दोष और दण्ड देने के लिए भी मै आगे नही बढूँगा।

अब शास्त्र को तो आदर्श की ही प्रतिष्ठा करनी है। सतीत्व से हलकी भूमिका पर धर्म को शास्त्र कैसे रख सकता है। आदर्श तो एक मूल्य-मान है, वह हस्तगत कदाचित् ही होता है। किन्तु फिर भी उसे सम्मुख सदा ही रखना होता है।

प्रश्न—किन्तु ऐसे व्यक्तियो के लिए आप क्या कहेंगे जो सहानुभूति की प्रेरणा से नहीं वरन् भोगेच्छा से मर्यादा का उल्लंघन करते है? स्त्री का ऐसे व्यक्ति के साथ निर्वाह भला किस प्रकार सम्भव हो सकता है?

उत्तर—ऐसे व्यक्ति को तो मै सराहना नही दूँगा। किन्तु जो स्त्री प्रतिकूलता रहते हुए भी उसकी सेवा से विरत नही होती उस स्त्री को मैं अवश्य पूजार्ह समझ सकता हूँ। और ऐसा उदाहरण मैं असम्भव नही मानता।

प्रश्न—किन्तु बहुत से व्यक्ति इतने दुर्व्यसनी देखने मे आते है कि उनकी बुराइयो के सहते रहने से उन्हे और प्रोत्साहन मिलना ही सम्भव है। क्या ऐसे व्यक्तियो को लिए स्त्री की ओर

से किसी दण्ड या विरोध की व्यवस्था लाभप्रद न होगी ?

उत्तर—दण्ड और प्रतिकार स्त्री की ओर से चलता ही रहता है। सती की ओर से वह नही चलता ऐसा नही मानना चाहिए। व्यक्ति के साथ के सहयोग मे उसके दोषो के साथ असहयोग की अमित सम्भावना समा सकती है। जहॉ गृहस्थी को तीन-तेरह करना ही, विच्छेद ही, एक उपाय दीख पड़ता हो, वहॉ अधिकाश सम्भव है कि सहयोग मे असहयोग चलाने की कुशलता नही साधी जा सकी है।

प्रश्न है कि दोष का परिहार कैसे साधा जाय ? दोषी को दुष्ट कहकर छोड़ देना तो प्रश्न से ही बचना होगा। सहानुभूति मे से उसे छोड नही दिया जायगा, यह शर्त रखकर ही कुछ दूर तक दोष के निराकरण का उपाय किया और खोजा जा सकता है।

मेरा मानना है कि सहानुभूति से हीन होकर मनुष्य का सुधार साधना सम्भवनीय कार्य नही है।

प्रश्न—मुझे यह लगता है कि किन्हीं व्यक्तियो के दोष का परिहार दोष को सहते जाने की नीति के द्वारा तो सम्भव है ही नही, विच्छेद भले ही उस मे सहायक हो जाय। तब आप क्या ऐसी अवस्था मे विच्छेद की स्वीकृति देगे ?

उत्तर—विच्छेद के लिए यदि इतना अवकाश है कि किसी की अनुमति पाने तक वह रुका रहे, तो कहना चाहिए कि वह अनिवार्य नही हुआ। अर्थात् मेरी उसमे स्वीकृति का प्रश्न नही है। जो पुरुष या स्त्री खीझ मे नहीं बल्कि तटस्थ होकर यह अनुभव कर आती है कि दोनो के हित मे विच्छेद ही उचित है, तो उस विच्छेद को मैं अपनी ओर से अनुचित कहने वाला नही हूॅ। पति-पत्नी दोनो प्रसन्न-भाव से जिसमे सहमत हो, उस विच्छेद मे दोष देखना मेरा काम नही है। मेरा आग्रह तो बस प्रसन्न-भाव का है। जहॉ तक मै जानता हूॅ विच्छेद के मामलो मे दोनो ओर भाव प्रसन्न नहीं

खिन्न रहता है। वह खिन्नता समाज के शरीर मे और वातावरण में व्याप्त हुए बिना नही रह सकती। वही एकत्रित होकर और फैलकर नाना व्याधियो को जन्म देती है। इसलिए कानून के जरिये तलाक की राह खोल देने भर से, या उस राह को प्रशस्त बना देने से, उलझन सुलझती है, या कम भी होती है, ऐसा मेरा मानना नहीं है।

प्रश्न—दोनो ओर से प्रसन्न भाव मे रहना तो बिलकुल असम्भव ही है। अधिकतर पुरुप स्त्री के साथ भरपूर अत्याचार करके भी उसे अपने ही पास रखना चाहते हैं। मेरे सामने अपनी एक मित्र का उदाहरण है जिस पर घोर अत्याचार हुआ किन्तु पति के पास से चले आने पर उसे बुलाने का आग्रह भी होता रहा। वह स्त्री हठात् विच्छेद के सिवा और क्या कर सकती है?

उत्तर—अत्याचार जो दूसरे पर करता है, वह पहले अपने पर करता है। जिसे पति के हाथो आए दिन पिटना ही पडता हो, वह पत्नी ऊपर की निपट सत्यता को भूल जाय तो अचरज नही है। अत्याचारी के भीतर के दुखी मानव को देखना उसके लिए उतना सहज नही रहता। इसलिए उसका विच्छेद का निर्णय प्रसन्न न हो, दोनो ओर से न होकर एक ओर से हो, तो इस मे कोई अनहोनी बात नही है। मैं मारपीट को एकान्त महत्त्व नहीं देता, बिना मारपीट हुए भी विच्छेद किन्ही मे अनिवार्य बन जाता है। कही मारपीट का क्रम इतना सहज हो जाता है जितना भोजन मे मसाला। अर्थात् सहनशक्ति की सीमा कहाँ है, मैं कह नही सकता। शायद सीमा कही है ही नहीं। शहीद मृत्यु सहते नही, प्रत्युत उसका वरण करते हैं। तब सहन-शक्ति की सीमा कहाँ मानी जाय?

और देखो, तुम स्त्री बनकर क्यो बोल रही हो? उसके उत्तर मे यह तो नही चाहती न कि मै पुरुष बनकर बोलूँ? यानी स्त्री पुरुष पर इलजाम लाए तो पुरुप अभियोग स्त्री पर डालना चाह सकता है। इस बदाबदी से कुछ भी

होने वाला नही है। उपाय निकलेगा तो तब जब हर पक्ष दोष अपनी तरफ ढूँढने के प्रयास को ठीक समझेगा। स्त्री अत्याचार अपने ऊपर मानकर अपने को जैसे पहले ही से अबला ठहरा लेती है। यह बात सही नही है। मुष्टि-बल मे मनुष्य को प्रबल मान भी लो, लेकिन वाक्-बल मे स्त्री के आगे मनुष्य कोई भी चीज नही है। अर्थात् स्त्री को यह भूल जाना चाहिए कि वह निर्बल है। निर्बल वह सचमुच नही है। मनुष्य रोना रोने सामने नही आता है, इतने ही से स्त्री अपने बल को जानने मे भूली रहे यह आवश्यक नही है।

प्रश्न—स्त्री अपने को निर्बल समझे यह तो मैं नहीं कहती। किन्तु स्वय उसकी प्रकृति और सामाजिक परिस्थितियाँ उसे मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक विपदावस्था मे डाल देती है। इसलिए वह मेरी सहानुभूति का केन्द्र बन जाती है। क्या आप इस बात को स्वीकार नहीं करते ?

उत्तर—स्वीकार करने मे आज की अर्थ-महत्ता अवश्य मेरी सहायता करती है। यानि पहले पैसा मनुष्य के हाथ मे आता है, पुरुष के द्वारा स्त्री के हाथ मे पहुँचता है। इसलिए पुरुष की अपेक्षा मे स्त्री को दूसरे नम्बर पर देखा जा सकता है। आर्थिक सभ्यता मे ऐसा होते जाना अनिवार्य है। इसलिए मुझसे पूछो तो जो सभ्यता आर्थिक है उसे मै गहराई मे असभ्य मान लेने को तैयार हूँ। विवाह से झगड़ने या तलाक को खोल देने से परि-स्थिति मे किसी प्रकार का अन्तर आ जाने वाला नही है। पश्चिम मे विवाह लगभग धार्मिक सस्था है ही नही, वह सुविधा की सस्था है। लेकिन वहाँ पर मनुष्य की अपेक्षा मे स्त्री गौण नही है, क्या यह मानने का अवसर है ? नही, वहाँ तनिक भी वैसी समता नही है, न हो सकती है। पश्चिम की उस अर्थ-गरिमा के प्रभाव मे अवश्य वहाँ स्त्री पुरुष सम्बन्धो मे एक गम्भीर विषमता घर करती जा रही है जिससे स्त्री मे आर्थिक स्वाधीनता की माँग

बढ रही है। लेकिन यह मरीचिका है। छीन-झपट की स्वाधीनता मे स्त्री पुरुष से होड नहीं ले सकती। उस राह तो पुरुष को सदा ही प्रभु स्वीकार कर लेना होगा। पश्चिम की अर्थ-केन्द्रित सभ्यता को स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध की दृष्टि से कोई साम्य की सभ्यता कहे तो मेरे लेखे उससे बड़ा भ्रम दूसरा कोई न होगा। आज तो मै मानता हूँ कि उस तरह की 'बराबरी' की महिमा और माँग बढती जा रही है। इस मे स्त्री को अवश्य ही नीचा देखना होगा। लेकिन अगर अर्थ मे कोई खास महिमा नहीं रहने दी जाय तब क्या आदमी तो अर्थ लाने वाला मजदूर और स्त्री उसके व्यय पर आधिपत्य रखने वाली रानी ही बनी नही देखी जा सकती? प्रश्न अर्थ का कमाना उतना नहीं जितना उसका खर्च करना है। यह सिर-दर्द पुरुष के लिए भारी पड़ता है, घर-गृहस्थी के काम मे उसकी बुद्धि उतनी चलती ही नही। इसलिए सवाल केवल महत्त्व के मुख को फेर देने का है। आमद से अधिक खर्च को महत्त्व मिले तो सहज ही स्त्री को प्रधानता मिल जाती है। नैतिक सभ्यता का यही मतलब है। आर्थिक सभ्यता आमद के लिहाज से ऊँच-नीच नापती है, नैतिक सभ्यता खर्च की विधि के लिहाज से। भोग-विलास मे जो खर्च करता है नीचा है, सेवा-सत्कार मे जो खर्चता है वह ऊँचा है। जहाँ हमारे मानसिक मान वैसे हुए कि स्त्री का महत्त्व बढ़ जाता है। स्त्री तब केन्द्र और मनुष्य परिधि हो जाता है। लोग कितना भी कहे मैं मानता हूँ कि भारतीय सभ्यता मे स्त्री को जो स्थान और मान प्राप्त था अधिक-से-अधिक भी आर्थिक उन्नति और आर्थिक विचारधारा उसे वह मान नही दिला सकती। मुझे स्वीकार करना चाहिए कि हमारी अर्थ-रचना और अर्थ-गरिमा के कारण स्त्री की स्थिति आज काफी विषम बन आई है। उसका उपाय मेरे विचार मे विवाह और सतीत्व से लड़ना नही बल्कि अर्थ के मूल्य को उलट देना है।

प्रश्न—अर्थ-रचना को बदलना हमारी शक्ति के बाहर की बात

है। जिस व्यवस्था में हम रहते हैं उसी का जोर हम पर पड़ता है। जब पुरुष अर्थ की पराधीनता के कारण स्त्री को गले पड़ी वस्तु समझे, भार समझे, मनमाना अधिकार जमाए और अत्याचार करे तो स्त्री कहाँ तक अर्थ को महत्त्व देने से बची रह सकेगी?

उत्तर—नहीं बची रह सकेगी तो अपनी स्थिति की हीनता को भुगतने और पहचानने से भी नहीं बच सकेगी। अगर कभी भी उस हीनता से उसे उबरना है तो इसके सिवाय कोई उपाय नहीं है कि वह स्नेह और सेवा के बल पर अपना स्थान प्राप्त करे, तथाकथित आर्थिक स्वतन्त्रता के बल पर नहीं। जरा पढ़-लिखकर झटपट नौकरी में वह दौड़ जाय और प्राप्त हुए वेतन के रुपये से अपनी स्वाधीन स्थिति बनाकर गर्वशालिनी बने—इस पद्धति से स्त्री कभी अपनी हीनता से छूट नहीं सकती। न उसकी स्थिति ऐसे सुरक्षित और सुन्दर बन सकती है। ये पुरुष के साथ स्पर्द्धा और संघर्ष में आने के मार्ग हैं। जीवन का नियम स्पर्द्धा नहीं सामञ्जस्य है, संघर्ष नहीं सहयोग है।

प्रश्न—स्नेह और सेवा के बल पर मार्ग बनाना आजकल की अर्थ-व्यवस्था वाले समाज में सम्भव नहीं दीखता। माता-पिता तक अर्थार्जन में अक्षम होने के कारण लड़की की अवहेलना करते देखे जाते हैं। पति तो मुझे लगता है अत्याचार करने का अवसर इसी निर्धनता के कारण पा जाते हैं कि रहना तो इसे हमारे ही आश्रय में है, और जायगी कहाँ?

उत्तर—अत्याचार के उदाहरण हैं तब सहयोगी प्रणय और निबाह के उदाहरण नहीं हैं, यह समझना भ्रांति है। मध्यवित्त श्रेणी पर आज बहुत बोझ है। इधर वे लोग श्रम से जुड़े नहीं हैं, उधर वे पूँजीपति की खूँटी से अधर में लटके हैं। वे दो पाटों के बीच हैं। इस श्रेणी में सिर्फ वे ही गृहस्थियाँ विषमता को झेल पा रही हैं जो सहयोग और सेवा-भावना का पल्ला थामे हुए हैं। जिन्होंने अपने बीच आर्थिक-मानस को उभरने और

पनपने दिया है वे ही गृहस्थियाँ है जिनके यहाँ विषमता और व्यथा का पार नहीं है। वे गृहस्थियाँ आज तीन-तेरह हुई जा रही है, और द्वन्द्वात्मक मतवाद की आँच के लिए ईंधन बन रही हैं।

प्रश्न—ऐसी गृहस्थियाँ भी तो है जो निर्धनता की ज्वाला में जल रही है और जहाँ स्त्रियाँ आर्थिक रूप से असमर्थ होने के कारण अकृतार्थता का बड़ा बोझ अनुभव करती है। मन मसोसे रहती है कि यदि वह इस योग्य होतीं तो अपने माता-पिता या पति की गृहस्थी को कुछ लाभ पहुँचातीं!

उत्तर—हाँ है और प्रश्न हो कि वे किधर जायँ? स्वतन्त्र और अलग-अलग होकर अपने निजी अर्थोपार्जन को महत्त्व दे या सहयोग भाव से एक दूसरे को सहारा देते हुए सम्मिलित निर्वाह करें? मैं निश्चय ही दूसरी राह के पक्ष मे हूँ।

प्रश्न—सहयोग आर्थिक भी तो हो सकता है। उसका तो फिर आप विरोध नहीं करते?

उत्तर—लक्ष्य सहयोग हो अर्थ नहीं। तो उस प्रकार के आर्थिक सहयोग मे कोई अनिष्ट सम्भावना नही है। किन्तु देखा तो यह जा रहा है कि अर्थ को अपने-आप मे हम इतना इष्ट बना देखते है कि वह परस्परता के निर्वाह के लिए है यह भूल जाते हैं और केवल अपनी स्वतन्त्रता के निर्माण के लिए है ऐसा मानते है। मूल व्याधि तो यही है।

प्रश्न—कभी-कभी स्वतन्त्रता के निर्माण के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिए एक पति-पीड़िता स्त्री अथवा विधवा स्त्री अलग अर्थोपार्जन ढूँढेगी ही।

उत्तर—ढूँढेगी ही, तो इसमे मुझे क्या कहना है। लेकिन मैं यह मानता हूँ कि विधवाएँ हैं, और पत्नियाँ तो है ही, जो जी रही हैं और अपने को थोड़ा-बहुत उपयोगी भी अनुभव कर रही हैं। अब कोई स्त्री (या पुरुष) ऐसी नही

है जो पीड़ित न हो और चाहने पर अपनी पीड़ा का दोष अपने से बाहर किसी पर न रख सकती हो। उन सबके लिए एक उपाय यही माना जाय कि वे सीधे पैसे को अपने सामने रखकर अपना श्रम बेचने चले, तो मै कहता हूँ कि श्रम की जगह वे अपना तन बेचने लगेगी, और इसमे भी कोई दोष नही देखा जा सकेगा। पैसा सदा कुछ बेचकर कमाया जाता है। पैसे को महत्त्व देना आवश्यक रूप से बेचने को महत्त्व देना है। पैसे का महत्त्व बढता जाता है तो कहा जा सकता है कि प्रत्येक स्त्री को निमन्त्रण मिलता रहता है कि वह स्त्री न रहे, वेश्या हो जाय। भ्रष्टाचार अर्थ-सभ्यता का फल और बल है। अर्थ जरूरी है और उसी का अभाव है, इसलिए क्यो न हम कुछ बेचने चले,—यही तुम्हारा तर्क है। तुम्हारे से मतलब परिस्थिति का तर्क। हॉ, मैं मानता हूँ कि आज की परिस्थिति ने अवश्य ही जीवन को क्षत-विक्षत कर रखा है। लेकिन परिस्थिति का तर्क ही सब कुछ है, तो जायज भी सब कुछ हो जाता है। मै वह नही मानता हूँ। परिस्थिति हम पर हावी रहे, कि हम उस पर काबू पाये? इस तरह परिस्थिति की तरफ से आने वाली मजबूरी को मै कभी बडी नही बता सकूँगा, व्यक्ति के सकल्प को ही मुझे उससे ऊँचाई पर रखना होगा। मै आशावादी हूँ। परिस्थिति की ओर से आशा को आने का कोई रध्र नही है, तो उसके निवास और उद्गम के लिए व्यक्ति का मन तो सदा ही विद्यमान है। अर्थ को ही एक मार्ग के रूप मे सामने देखना मनुष्यता मे, मनुष्य की सामर्थ्य मे, अविश्वास करना है। इसलिए मै नही चाहूँगा कि माता कमाने के लिए दफ्तर मे जाय और धाय कमाने के लिए बच्चे को अपना दूध पिलाने आए। कमाई का चक्कर ही है जो इस तरह दो माताओ का मातृत्व छीनकर दोनो को बिक्री की वस्तु बनाता है। बच्चे फिर भी पलते है, लेकिन वे स्नेह से नही शायद मजदूरी से पलते है, बहुत हुआ तो विज्ञान से पल सकते है। मै क्या इस हालत पर व्यवस्था को और व्यवस्थापको को बधाई दूँ?

प्रश्न—लेकिन इस वार्ता में से ऐसी स्त्री के लिए उपाय तो निकला ही नहीं—यदि श्रम बेचना हीन है तो फिर वह निराश्रित और क्या करे ?

उत्तर—उसे जो सूझे करे। श्रम यदि कोरा है और किसी विशेष दिशा की कुशलता उसके साथ नहीं है, तो सम्भव है कि उस श्रम की बिक्री से पेट के लायक तो मिले, बाकी साधन उतने से न जुटे। मेरे यहाँ बर्तन माजने वाली को १०) मासिक मिलता है। अधिक-से-अधिक चार चौकों का वह काम कर सकती है। महगाई देखते वह उसको जिला सकता है, या कितने अंश तक जिला सकता है, यह हिसाब फैलाकर जाना जा सकता है। हारी-बीमारी लगती ही रहती है और उन दिनों की तनख्वाह कट सकती है। हो सकता है उस विधवा के पास दो एक बच्चे भी हों, वह विधवा यदि कुछ अक्षर पढ गई है और किंचित मानी कुल की है, तो चटसाल में बच्चों को पढाकर ३०) मासिक पाना उसे मंजूर होगे, चौका बासन के ४०) नहीं। इस तरह व्यावहारिक समस्याएँ सबकी अपनी हैं और कुछ-कुछ एक-दूसरे से भिन्न हैं। श्रम बेचने के साथ तन की बिक्री की भी तैयारी हो तो अमुक वय में अपेक्षाकृत जीवन-निर्वाह में अधिक सुभीता हो सकता है। सक्षेप में बिक्री सदा एक व्यवसाय है और हर व्यवसाय दलाल माँगता है। दलाल कहो या ठेकेदार, यानी एक मध्यवर्ती जिसके द्वारा बाजार में व्यक्ति या वस्तु के दाम उठे। यानी तन बेचकर स्त्री को आप ही जीना नहीं है, जो इस बिक-वालीका इन्तजाम करता है उसके घर-बार और कारोबार को भी बहाल रखना है। हो सकता है रुपये में बारह आने इसमे काम आएँ, चार आने उस बेचे गए तन की मालकिन के हाथ आएँ। विभाजन के सही-सही हिसाब को उस प्रकार के कारोबार के विशेषज्ञ से प्राप्त किया जा सकता है। मतलब कि बिक्री में से अगर कुछ निर्वाह का मार्ग देखा जाता है तो वह भी इतना सीधा और सुगम नहीं है। तुम्हारी कठिनाई शायद यह है कि स्नेह-सेवा में से उतनी

भी राह खुलती न दिखाई दे, तो क्या किया जाय? मैं कहता हूँ कि उस ओर से राह पाने के प्रयत्न का अन्त आ जाय, अर्थात् श्रद्धा का ही सम्पूर्ण अभाव हो आए, तो मै कहूँगा कि अच्छा, अपनी सीधी बिक्री करके पेट पालने का प्रयत्न कर देखा जाय। मेरा मानना है कि कुछ देर के लिए पेट तो शायद वैसे पलेगा, पर समस्या सुलझेगी नही, उल्टे उलझेगी ही। व्यक्तिगत समस्या भी और सामाजिक भी।

प्रश्न—विवशता-प्रेरित स्त्री के लिए श्रम बेचने की बात लेकर आप उसे वेश्या-वृत्ति की निकृष्टता तक क्यो ले जाते है? आखिर पुरुष भी तो श्रम बेचकर जीविका का उपार्जन करते ही है?

उत्तर—प्रश्न का मतलब यह भी समझा जा सकता है कि जो पुरुष करते है, कुछ वैसा ही बेचने का काम करके वेश्या कहकर स्त्री को निकृष्ट क्यो मानना चाहिए? मै अपनी ओर से सचमुच वेश्या को निकृष्ट कहकर छुट्टी नहीं पा जाता हूँ। मुझ से निकृष्ट शब्द निकला हो तो बताओ!

प्रश्न—लेकिन जिस दृष्टि से समाज वेश्या को देखता है वैसा भाव तो आपने स्त्री को श्रम बेचने के अर्थ मे रखा ही है न?

उत्तर—हाँ, बिक्री ही यदि समाज की और जीवन की नीति बन जाए तो मैं उससे सहमत नही हो सकता। उसकी भर्त्सना मे मैं पीछे नही रह सकता। वेश्या संस्था उसी की प्रतीक है, लेकिन वह संस्था समाज के प्रचलित मूल्य की भी द्योतक है। अर्थात वहाँ भर्त्सना वेश्या बनी नारी की नहीं है,
बल्कि हम सबकी है, उस स[illegible] है जहाँ नारी को रूपजीवी बनना
हुआ है। मूल्य जब तक आर्[illegible] मौजूद रहेगी। वेश्या चिह्न है,
रोग का निदान भीतरी है। म समाज की [illegible] स्तु हो जाती है, जब कि है वह
व्यक्ति। पैसा यही खेल करता रहेंगे, वेश्या [illegible] जकडकर उसे पण्य-पदार्थ बना
डालता है। इसी से जो आत्म होकर नारी व [illegible] के साधक है वे पैसे को छोड़ने
से आरम्भ करते है। पैसे को। चेतन को [illegible] चलाने से मानव-सम्बन्ध ऐसे
अथवा चैतन्य
ामने रखकर

कृत्रिम बने बिना नही रह सकते कि एक उनमे व्याध और दूसरा आखेट हो आए। उन सम्बन्धो मे भोग-भाव के बीच से होने और बढ़ते जाने की सम्भावना को तब रोका नहीं जा सकता।

प्रश्न—लेकिन आज का समाज तो पैसे से भीषण रूप मे ग्रस्त है। इस रोग का निदान जब तक न हो तब तक नारी इससे कैसे बच कर रह सकती है ?

उत्तर—हाँ, नारी अकेली कैसे बचेगी ? वह नही बच पायगी। साथ नर को भी बचना होगा। यानी वह नर बनाम नारी की प्रकृत और पारस्परिक समस्या न होकर कुछ बौद्धिक समस्या है। पर शायद उस सबको पाना और पकडना इसी समय जरूरी तुम नहीं बना लेना चाहती हो।

जैनेन्द्र-साहित्य

प्रसिद्ध विचारक और साहित्यकार जैनेन्द्र जी के सम्पूर्ण पुराने और नये साहित्य का अभिनव प्रकाशन इस सीरीज मे हो रहा है। अब तक की प्रकाशित पुस्तकें:—

पुस्तक		मूल्य
पूर्वोदय	(सास्कृतिक निबन्ध)	४)
सुखदा	(उपन्यास)	८)
विवर्त	,,	८।)
व्यतीत	,,	३॥)
काम, प्रेम और परिवार	(तात्त्विक)	३)
प्रस्तुत प्रश्न	,,	८॥)
साहित्य का श्रेय और प्रेय	(साहित्य समीक्षा)	७)
पाप और प्रकाश	(टाल्सटाय के नाटक का अनुवाद)	२॥)
ये और वे (प्रेस मे)	(सस्मरण)	४)
मथन ,,	(दार्शनिक)	५)
सोच-विचार ,,	(लघु-निबन्ध)	४)

पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागज, दिल्ली